समीक्षा के सिद्धान्त

(साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक निरूपण)

डॉ० सत्येन्द्र

भारती भवन, आगरा

प्रकाशक—

भारती भवन
राजामंडी, आगरा

द्वितीय संस्करण : नवम्बर १९६२

मूल्य ३.५०

मुद्रक—
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बाग़मुजफ्फरखाँ, आगरा

भूमिका

समय-समय पर किसी-न-किसी बहाने समीक्षा के सिद्धान्तों पर मुझे विचार करना ही पड़ा, और लिखना भी तब अनिवार्य हो गया। ऐसे विचार के क्षणों में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों की बातें सामने आईं। विचार के इस कोटि-क्रम में मुझे दोनों में कोई असामञ्जस्य नहीं लगा। समीक्षा के सिद्धान्तों में समय-समय पर विकास हो सकता है, विकास की व्याख्या में कुछ भेद हो सकता है। व्याख्या के रूपों को ग्रहण करने में प्रवृत्ति और रुचिभेद भी होता पर जो समीक्षा है, उसके सिद्धान्तों के मौलिक तन्तुओं में अन्तर नहीं होगा। अक्षर, शब्द, वृत्ति, वाक्य, अर्थ, भाव, ज्ञान, शैली आदि तत्त्व साहित्य के सभी रूपों में मिलते हैं, और विश्व-भर के साहित्य में वह चाहे मौखिक साहित्य हो चाहे लिखित। इनको शास्त्रीय अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से यथार्थ रूप में ग्रहण करने में काल और स्थल के भेद से भेद मिल सकता है। इसी मौलिक दृष्टि से मैंने समीक्षा के सिद्धान्तों पर जब-तब जो निबन्ध लिखे और प्रकाशित किये उनके विचार-बिन्दुओं को इस पुस्तक के बहाने एकत्र और व्यवस्थित करने का प्रयत्न मैंने किया है, और उनके बीच में जो अभाव था उसकी पूर्ति के लिए नयी सामग्री भी दी है। इस प्रकार साहित्य के प्रत्येक रूप की चर्चा इसमें की गयी है। अतः इसमें कुछ,ऐसी बातें भी मिलेंगी जो मेरी अन्य पुस्तकों में बिखरी हुई हैं, विशेषतः 'साहित्य की झाँकी' और 'कला, कल्पना और साहित्य' में, 'प्रेमचन्द : उनकी कहानीकला', 'हिन्दी एकांकी में' भी। मैं इन ग्रन्थों के प्रकाशक श्री महेन्द्र जी का आभार मानता हूँ जिन्होंने इस रूप में उनके उपयोग की स्वीकृति प्रदान करने की कृपा की है।

इस पुस्तक का मुख्य ध्येय विद्यार्थियों को विधिवत् समीक्षा-सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय कराना है। ऐसा करने में यों नवोन्मेष अपेक्षित नहीं होता। फिर भी नवोन्मेष की कमी नहीं प्रतीत होगी और राष्ट्रभाषा के

महत्त्व के अनुकूल विद्यार्थियों में समीक्षा की जो वैज्ञानिक, पुष्ट, प्रामाणिक शास्त्रोपयोगी नवीनतम चेतना उदय होनी चाहिये उसे यह पुस्तक अवश्य देगी, ऐसा मेरा विश्वास है । ऐसे समीक्षा-ग्रन्थों में लेखक को अन्य विद्वानों के मतों अथवा तर्कों को देना ही होता है । मैं उन समस्त लेखकों और विद्वानों का कृतज्ञ हूं जिनकी किसी भी पुस्तक अथवा किसी भी लेख का किसी भी रूप में इस पुस्तक में उपयोग किया गया है । उनका यथास्थान उल्लेख करने की चेष्टा की गयी है । अनजान में यदि किसी का उल्लेख रह गया हो तो उसके लिए लेखक क्षमाप्रार्थी है । इस पुस्तक को प्रस्तुत कराने का मूल श्रेय इसके प्रकाशक को है, उनके आग्रह के अभाव में मैं इसे कभी प्रस्तुत नहीं कर सकता था। मेरे दो मित्रों का इसकी तैयारी में बहुत योग रहा । वे भी इतने निजी हैं कि उन्हें धन्यवाद न देना ही उचित होगा ।

दूसरे संस्करण की भूमिका

यह दूसरा संस्करण है । इस संस्करण में कई नये परिवर्त्तन किये गये हैं। कुछ ऐसे स्थल थे जिन्हें समझाने के लिए रेखाचित्र अपेक्षित थे, वे भी यथा स्थान दे दिये गये हैं, इसने इस पाठ्य-ग्रंथ की उपयोगिता और बढ़ादी है, और पाठक के लिए विषय और भी अधिक बोधगम्य हो गया होगा । यों इसमें कोई नया अध्याय तो नहीं बढ़ाया गया किन्तु कुछ नयी बातें प्रस्तुत अध्यायों में ही बढ़ायी अवश्य गयी हैं, इससे यह एक नयी ही वस्तु हो गयी है ।

आगरा
विजय. दशमी २००९

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

साहित्य का उद्भव

द्वितीय अध्याय

काव्य की परिभाषा और तत्व

तृतीय अध्याय

दृश्य काव्य : नाटक

चतुर्थ अध्याय

कथा साहित्य

पंचम अध्याय

जीवनी लेखन

षष्ठम अध्याय

निबन्ध : सिद्धान्त

सप्तम अध्याय

साहित्य-समीक्षा के तत्त्व

प्रथम अध्याय

साहित्य का उद्भव

समाज

'काव्य' भले ही व्यक्ति के द्वारा निर्मित माना जाय, पर वह एक सामाजिक तत्त्व है, और मानव के उन समाजनिष्ठ भावों की अभिव्यक्ति उसमें होती है जिनकी भूमि मनुष्य और प्रकृति के रागात्मक संबंधों से निर्मित होती है।

वर्ड्सवर्थ जैसे अंग्रेजी के महान् कवि ने लिखा है—

"काव्य मनुष्य और प्रकृति की छवि है। वह (कवि) मनुष्य और प्रकृति को मूलतः परस्पर सामञ्जस्य करते हुए मानता है, और मानता है मनुष्य के मस्तिष्क को स्वभावतः प्रकृति के अत्यन्त सुन्दरतम तथा रोचक तत्त्वों का दर्पण।"[1]

इस कवि ने काव्य, मनुष्य तथा प्रकृति के पारस्परिक गूढ़ सम्बन्ध की ओर इन पंक्तियों में संकेत किया है।

काव्य, मनुष्य तथा प्रकृति का परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यथार्थ में तो इनमें अद्वैत है। आस्तिक दृष्टि से चेतन-मात्र की ही सत्ता है। उसे दार्शनिक

१. वर्ड्सवर्थ-लिखित 'प्रीफेस'

भाषा में 'ब्रह्म' नाम दे दिया जाता है। नास्तिक दृष्टि से यह अद्वैत प्रकृति है। प्रकृति के विकास-क्रम में ही मनुष्य अवतीर्ण हुआ है। और मनुष्य के सामाजिक विकास से वाणी का, वाणी से काव्य का प्रादुर्भाव हुआ है। इन दोनों ओर-छोर के विश्वासों के समन्वय के भी प्रयत्न हुए हैं, और कितने ही दार्शनिक मत ऐसे प्रस्तुत हुए हैं जो पुरुष[1] और प्रकृति[2] के पारस्परिक सम्बन्धों को विविध अनुपात में ग्रहण करते हुए विविध वादों की सृष्टि कर गये हैं।

ऐतिहासिक विवर्तन की दृष्टि से देखें तो १९ वीं शताब्दी तक पुरुष, चेतन, चर अथवा ब्रह्म की प्रतिष्ठा थी। १९ वीं शती के उपरान्त प्रकृति, जड़, अचर अथवा माया की प्रतिष्ठा बढ़ गयी है। और इस बीसवीं शती में तो यही एक-मात्र वैज्ञानिक सत्ता है। चेतन ही मायाविष्ट हो जड़ में विवर्तित हो गया हैं, यह चेतनविवर्तवाद आज ग्राह्य नहीं है, आज तो जड़ प्रकृति का विकास ही मान्य है। जो भी हो, बिना गहरायी में गये, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पुरुष तथा प्रकृति मानव तथा समाज के विकास की भूमि है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने विकासवाद के द्वारा मनुष्य के जन्म की रोचक कहानी दी है, जिससे ज्ञान-वर्द्धन ही नहीं होता, मनोरंजन भी होता है। इसे संक्षेप में यों दे सकते हैं।

"सबसे पहले हमारा यह भू-मण्डल आग का एक गोला था।

"लाखों वर्ष बीते इस भूमण्डल का ऊपर का पर्त जल गया और वह पहाड़ियों और गड्ढों से परिपूर्ण हो गया।

"तब जोर का एक मेह बरसा, पहाड़ गल-गलकर बहे, उनकी मिट्टी ने गहरे गर्तों को भर दिया।

"भू-मण्डल पानी से भर गया।

"एक दिन इस पानी में एक जीवित सैल उद्भवित हुई फिर और पैदा हुईं।

---

१. चेतन-मूल सत्ता को पुरुष संज्ञा दी जाती है। चर अथवा जंगम भी यही है।

२. प्रकृति को चेतन के विरुद्ध बहुधा 'जड़' कहा गया है। अचर भी यही है।

"इन सैलों में से कुछ को इन झीलों और तालाबों के तले का अन्धकार ही प्रिय लगा, वहीं ये जम गये और वृक्ष कहलाये।

"कुछ इनमें से घूमना-फिरना पसन्द करने वाले थे। इनके टाँगें निकलीं। ये टाँगों से समुद्र-तल पर इधर-उधर रेंगने-घूमने लगे।

"कुछ को पानी में तैरना ही अच्छा लगा। ये मछलियाँ कहलायीं।

"पौधे बढ़े, समुद्र-तल पर स्थानाभाव हुआ, पहाड़ों की तलहटियों की मिट्टी की दलदलों में उन्होंने अपने लिए स्थान बनाया। समुद्र की लहरें इन स्थलों को ज्वार के समय पानी से परिपूर्ण करती थीं; धीरे धीरे इन्हें स्थल पर हवा में रहने का अभ्यास पड़ गया। अब ये काया में बढ़े और झाड़ियों के रूप में परिवर्तित हो गये। आखिर इनमें फूल भी आने लगे। इनका पराग विश्व-भर में फैला और पृथ्वी जंगलों से छा गयी।

"कुछ मछलियाँ भी पानी से ऊबकर भूमि पर रहने का अभ्यास करने में सफल हुईं। धीरे-धीरे इन्हें पृथ्वी ही सुखकर प्रतीत होने लगी। ये जंगलों में रहने लगीं और उसी के अनुसार अपने शरीर का विकास करने लगीं।

"इनमें से कुछ सरीसृप का रूप धारण करने लगे। शरीर इनका बहुत विशाल हो गया।

"कुछ सरीसृप पेड़ों के ऊपर रहने लगे। उसी के अनुसार उन्होंने अपने शरीर में परिवर्तन कर डाला। पंजों का और पंखों का विकास हुआ। ये पक्षी बने।

"सरीसृपों की विशाल काया वाली जाति एकदम नष्ट हो गयी।

"इन्हीं में से कुछ ने अपनी सन्तान-रक्षा के लिए सन्तान को अपने शरीर में ही स्थान दिया और स्तन से दूध पिलाया।

"कुछ स्तन-पायी प्राणियों ने पैरों का उपयोग करना आरम्भ किया। आगे के पैरों से हाथों का काम लेना आरम्भ किया।"

कुछ इसी क्रम में मनुष्य का प्रथम पूर्वज विकसित हुआ।

समाज का उदय

इस पूर्वज से, बर्बर और पशु-मनुष्य से, सुसभ्य मानव के ढलने का इतिहास भी अत्यन्त रोचक है; पर द्रष्टव्य यह है कि इस विकसित होने वाले मनुष्य ने

अपने पशुत्व के अवशेषों का एक विशेष प्रकार का संस्कार कर डाला। उदाहरणार्थ सबसे बड़ा मौलिक संस्कार उसने यह किया कि पशुओं के झुण्डों में रहने की प्रकृति को 'समाज' में परिणत कर दिया।

अब वह पशुओं की भाँति केवल आत्म-रक्षा तथा संतति-विस्तार के लिए ही झुण्डों अथवा समूहों में नहीं रहता, वह इन मौलिक तत्त्वों की प्रेरणा को अक्षुण्ण रखते हुए भी इन्हें नये रूपों में ढालता जाता है। आज के मानव-समाज में, सभ्यातिसभ्य मानव-समाज में भी आत्म-रक्षा तथा संतति-विस्तार की भावनाएँ हैं और सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर स्पष्ट विदित होगा कि मनुष्य ने झुण्ड को समाज का रूप भी इन्हीं दोनों मूल प्रेरणाओं के कारण दिया। आत्म-रक्षा के लिए संतति-विस्तार और संतति-रक्षा के विविध आयोजनों में से एक आयोजन पशुओं जैसी चीख-पुकार भी है। यही चीख-पुकार धीरे धीरे वाणी में बदल गयी, जिसमें अब अर्थ का भी समावेश हुआ। वाणी के प्रादुर्भाव ने समाज बनाने और समाज में रहने की मनुष्य की प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहित और दृढ़ किया।

वाणी का विकास एक महान उपलब्धि है। शब्द-ध्वनि जैसे भौतिक अवयव का मन के भावों और विचारों के स्थूल-सूक्ष्म अंशों से एक समन्वित अभिव्यक्ति और उसको ग्रहण करने का भाव इससे सिद्ध हुआ। भाषा परिपक्व हुई।

आत्म-रक्षा की प्रेरणा ने ही उसे विविध आविष्कारों के लिए प्रेरित किया तथा सन्तति-विस्तार की भावना हृदय-रस और सौन्दर्यान्वेषण में परिणत होती चली गयी। एक से विज्ञान और शिल्प, दूसरे से कला और कवित्व की सृष्टि की परम्परा सम्बद्ध है।

मूल प्रेरणाओं के इन दोनों रूपान्तरों ने मनुष्य को समाज का ही रूप नहीं दिया प्रत्युत उसे संस्कृति और सभ्यता की यात्रा में भी आगे बढ़ाया।

स्पष्ट है कि इस यात्रा ने मानव की सबसे अधिक सहायता की है।

समाज का रूप

समाज का उल्लेख यहाँ किया गया है। पर, समाज है क्या ? यह पशुओं के झुण्ड की भाँति मात्र मनुष्यों का समूह नहीं। पशुओं से मनुष्य में एक बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने लिए बन्धनों का निर्माण कर सकता है। वह

अपनी शक्ति दूसरों को दे सकता है। समाज के रूप में मनुष्य ने अपने लिए ऐसे ही बन्धन निर्माण किये। यह निर्माण स्वाभाविक विकास की परम्परा में ही हुआ। और इन बन्धनों से मनुष्य ने आत्मा-रक्षा तथा सन्तति-विस्तार की भावना को अखण्ड रखने का ही उद्योग किया। ईशोपनिषद् ने कहा है "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा"—उसे त्यागकर ही भोग—आदिम मनुष्यों ने विकास की शक्तियों से यही सीखा और अपने उन्मुक्त व्यक्तित्व को किन्हीं सीमाओं में बाँधना स्वीकार किया जिससे कि वह अपने व्यक्तित्व की परम्परा की रक्षा भली प्रकार कर सके, इस प्रकार यह समाज बना और इसी समाज ने मनुष्य की व्यष्टि से भिन्न शक्ति धारण कर ली।

समाज और मनुष्य का सम्बन्ध व्यष्टि और समष्टि का ही नहीं। यह सम्बन्ध व्यक्तिवादिनी शक्ति और सामूहिक शक्ति का भी नहीं। यह सम्बन्ध यथार्थतः व्यक्ति के व्यक्तित्व और समाज के व्यक्तित्व का भी सम्बन्ध है। इसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा की भाँति समाज की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी खड़ा हुआ। समाज की प्रतिष्ठा का भाव इतना प्रबल हुआ और समाज का व्यक्तित्व इतना सबल कि व्यक्ति, जो उसका सदस्य और मूलतः निर्माता है, समाज के व्यक्तित्व के समक्ष क्षुद्र होने लगा और अन्ततः समाज को अपनी शक्तियों का स्रोत और प्रेरणा मानने लगा।

मनुष्य के व्यक्तित्व और समाज के व्यक्तित्व के इन सम्बन्धों का इतिहास भी एक संघर्ष का इतिहास है। यों यह संघर्ष त्रिविध था—मनुष्य, समाज तथा प्रकृति की त्रयी का संघर्ष।

प्रकृति का संघर्ष मानव से निरंतर रहा है। ऊपर मनुष्य के विकास की कहानी से इस संघर्ष का एक रूप दिखायी पड़ता है।

इसी संघर्ष के मूल में कला और साहित्य की अभिव्यक्ति का मूल है। इस संघर्ष ने मानव को प्रकृति पर विजय पाने का अदम्य उत्साह दिया; उसे निरंतर और उत्तरोत्तर सबल और परिष्कृत होने की भावना दी। जिससे वह कलात्मक अभिव्यक्तियाँ करने में प्रवृत्त हुआ।

मानव

समाज और प्रकृति की शक्तियों से संघर्ष करते हुए हमें 'मानव' के दर्शन होते हैं। यह मानव हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह क्या है ?

मनुष्य का विश्लेषण करने से उसके तीन निर्णायक तत्त्वों का पता चलता है। उसके पास हाड़-मांस-रक्त हैं, शरीर है। यह प्रकृति के पंचभूतों से निर्मित है। उसके पास, तब, हृदय है, उसका राग-तत्त्व है जो व्यवसाय-व्यवहारों को ग्राह्य बना देता है। बुद्धि एक मानसिक शक्ति के रूप में उसके पास बिलकुल अद्भुत वस्तु है, जैसे प्रकृति का विकास-सिद्धान्त चैतन्य होकर स्वयं ही बुद्धि बन गया हो। बुद्धि में एक प्रकाश है, एक ज्ञान है। एक सूझ है और कल्पना है। किन्तु इसी के साथ इन्ही तत्त्वों का सामाजिक रूप भी प्रस्तुत हो जाता है। इसे यों देखिये—

व्यक्ति स्वरूप—मनुष्य	प्रकृति	बुद्धि	राग
संख्या स्वरूप—बहुमनुष्य	प्रकृति-समुच्चय	बुद्धि-समुच्चय	राग-समुच्चय
संस्कारी स्वरूप—*समाज*	*सामाजिक* अधिकार	*समाज*-सिद्धान्त	*समाज*-प्रवृत्ति

इस समस्त रूप को भारतीय दार्शनिकों ने सत्, चित और आनन्द की संज्ञा दी है। 'प्रकृति' है 'सत', बुद्धि का संबंध 'चित' से है, और 'राग' का 'आनन्द' से। इन्हीं से मानव का समग्र रूप बनता है।

राग-तत्त्व

मनुष्य और उसके समाज के निर्माण में यह राग-तत्त्व एक विशिष्ट स्थान रखता है। वस्तुतः विदित यह होता है कि आरम्भ में बुद्धि-तत्त्व राग-तत्त्व के पूरक के रूप में उदित हुआ होगा। इसमें कोई सन्देह नही कि आज के वैज्ञानिक युग में बुद्धि-तत्त्व प्रधान हो गया है और राग-तत्त्व गौण है।

प्रकृति-तत्त्व की आवश्यकताएँ और राग-तत्त्व की आवश्यकताएँ शुद्ध रूप में अर्थ और काम की आवश्यकताएँ हैं। भूख-प्यास और शरीर-रक्षा-सम्बन्धी मनुष्य के उद्योग प्रकृति-तत्त्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्योग हैं। इनका सम्बन्ध आत्म-रक्षा से है। ये केवल सत् हैं। इनका अस्तित्व-मात्र से सम्बन्ध

है। मनुष्य का यह उद्योग अर्थ के लिए किया गया उद्योग है। सन्तति-विस्तार की मौलिक प्रेरणा काम के नाम से अभिहित होगी, यह राग-तत्त्व का रूप ग्रहण कर लेती है। आत्म-रक्षार्थ अर्थ के लिए अपने पैरों पर खड़े होने वाले मानव को प्रकृति का दोहन करना होता है। यह मानव और प्रकृति की रसायन से सिद्ध होता है। किन्तु सन्तति-विस्तार अथवा आत्म-विस्तार का संबंध मानव-मानव की प्रकृति की रसायन का परिणाम होता है। यह पारस्परिक राग से ही सिद्ध हो सकता है—अतः यह 'काम' है। ये दोनों तत्त्व भी परस्पर सुसंबद्ध हैं। मानवीय मनोवैज्ञानिक विस्तारण-नियम से एक मानसिक-तत्त्व दूसरे के अर्थ और संकेत को ग्रहण कर लेता है। इसी नियम से प्रकृति के मूल रक्षा-तत्त्वों से भूख-प्यास-रक्षण की प्रेरणाओं के साथ काम-भाव अथवा राग-तत्त्वों का मनोरम सम्बन्ध हो जाता है। रक्षार्थ और आत्म-विस्तारार्थ मानव को मानव से मिलकर प्रकृति का दोहन और प्राकृतिक तथा मानवीय बाधाओं का निराकरण करना होता है। इसी से दोनों तत्त्वों का संबंध और भी अधिक गूढ़ और घनिष्ठ होता जाता है।

रसोदय और राग

भारतीय साहित्य-शास्त्र में रसवादियों ने विभिन्न स्थायी भावों के रूप में मनुष्य के उन मौलिक रागों को उभारकर प्रस्तुत किया है जिनका सम्बन्ध अर्थ अथवा काम से प्रकृति के आत्म-रक्षा और आत्म-विस्तार-सम्बन्धी धर्मों के कारण है।

आठ रसों के आठ स्थायी भाव हैं। ये स्थायी भाव दो स्पष्ट विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं।

आत्म-रक्षा के संस्कार में विकसित स्थायी भाव ये हैं—

रस	स्थायी भाव
वीर	उत्साह
रौद्र	क्रोध
बीभत्स	घृणा
भयानक	भय

आत्म-विस्तार, सन्तति-विस्तार अथवा वंश-रक्षा के सांस्कृतिक विकास के परिणाम से ये स्थायी भाव विकसित हुए है—

रस	स्थायी भाव
शृङ्गार	रति
हास्य	हँसी
करुण	शोक
अद्भुत	आश्चर्य

अभिव्यक्ति के दो रूप

आत्म-रक्षा-सम्बन्धी जो राग-तत्त्व अथवा स्थायी भाव हैं उनमें एक और विशेषता यह विदित होती है कि इनमें से दो तो आत्म-संकट सम्बन्धी हैं—भय और वीभत्स। शेष दो निवारण-सम्बन्धी मनोभाव हैं—वीर और रौद्र।

आत्म-विस्तार-सम्बन्धी मनोभावों में इतनी स्पष्टता नहीं, क्योंकि ये भाव इतने साधारण नहीं; जटिल हैं। यहाँ तक कि रति के जैसा स्पष्ट और उद्दाम भाव भी जटिल और व्यापक है। क्योंकि इन मनोभावों का सम्बन्ध ही मूलतः सामाजिक है अर्थात समाज-आश्रित है, व्यक्ति-आश्रित ही नहीं।

आत्म-रक्षा की भावना संकुचित प्रवृत्ति का रूप ग्रहण करती है और 'स्व' अथवा स्वार्थ में सीमित हो जाती है। उसके विरुद्ध आत्म-विस्तार का भाव उदार तथा प्रसार की भावना से सम्बन्ध रखता है। पहले भाव का मूल है—'बचो'। चाहे पलायन से, चाहे आक्रमण से। दूसरे भाव का मूल है 'मिलो'। फलतः प्रथम चार स्थायी भाव मूलतः 'व्यक्ति' से सम्बन्धित हैं और शेष चार 'समाज' के मूल हैं। इसी कारण ये आत्म-विस्तारक भाव जटिल हैं और ये मनुष्य की सामाजिक अभिव्यक्ति के प्रेरक है।

'बचो' और 'मिलो' के मूल भावों को 'भय' और 'रति' के दो शास्त्रीय नाम दिये जा सकते हैं। आत्म-रक्षा 'भय-विह्वल' होती है; आत्म-विस्तार 'रति-विह्वल'। व्यक्ति का मूल है भय; समाज का मूल है रति। भय-रति के समन्वय से व्यक्ति और उसका समाज बना है। दोनों साथ-साथ चले हैं। और

दोनों संघर्ष करते चले हैं। यह संघर्ष व्यक्ति और समाज का नहीं वरन् व्यक्ति की निजी अभिव्यक्ति और व्यक्ति की सामाजिक अभिव्यक्ति का संघर्ष है। क्योंकि व्यक्ति का संकोच स्वार्थ है, व्यक्ति का विस्तार समाज है।

कला का मूल

कला का मूल भी व्यक्ति की इन्हीं अभिव्यक्तियों में है। प्रकृति-तत्त्व और राग-तत्त्व की अभिव्यक्ति कला की मूल भित्ति है, बुद्धि-तत्त्व उसके आदर्श का प्रस्तोता है।

मनुष्य की इन समस्त अभिव्यक्तियों के दो स्थूल रूप होते हैं—१. शरीरीय २. पदार्थीय।

शरीरीय अभिव्यक्ति में मनुष्य की अभिव्यक्ति उसके शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ही होती है। नृत्य अथवा नाट्य में मनुष्य की अभिव्यक्ति उसके शरीर की ही विविध मुद्राओं में रूप ग्रहण करती है। इसी प्रकार 'गीतों' में।

पदार्थीय अभिव्यक्ति किसी पदार्थ पर मनुष्य द्वारा अंकित होती है। पत्थर पर, भूमि पर, पट पर आदि।

तीन भेद

इन समस्त अभिव्यक्तियों को प्रयोजन और उपयोग की दृष्टि से तीन भेदों में बाँट सकते हैं :—

१. उपभोगी—यह अभिव्यक्ति मूल रूप में मात्र आवश्यकतापूर्ति के लिए होती है। फल लेकर पूरा खा जाना ऐसी अभिव्यक्ति है। यहाँ तक यथार्थ में आदिम स्थिति है और इसमें मनुष्य का कृतित्व नहीं। न फल कृति है, न उसे खा लेना।

२. उपयोगी—उपयोगी अभिव्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार की कृति का रूप ग्रहण करती है। वह कृति उपभोग-मात्र की आवश्यकता से अधिक और कुछ विशेष बातों से अभिमण्डित रहती है। कृति के साथ ही कला आती है।

आदिम अवस्था के मानवों की कृतियाँ अस्त्रों के रूप में तथा रेखाचित्रों के रूप में मिलती हैं। ये चित्र बहुधा पशुओं के होते थे। अनुमान है कि ये चित्र किसी टोने के भाव से अंकित किये गये होंगे। यहाँ उपयोगिता के साथ

कला उपस्थित हुई है।[1] इन चित्रों का उपभोग्य शिकार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। किन्तु उन चित्रों की परिस्थितियों से यह भी विदित होता है कि ये चित्र केवल चित्र बनाने के लिए नहीं बनाये गये थे। इन चित्रों के साथ किसी-न-किसी प्रकार की उपयोगिता का भाव अवश्य लगा हुआ था। चित्र मनुष्य की कृति था, ऐसी कृति, जो उपयोगी तो थी उपभोगी नहीं। ऐसी कृति, जिसका मनुष्य की किसी प्राकृतिक इच्छा पूर्ति से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, ऐसी कृति, जो मनुष्य ने उन क्षणों में प्रस्तुत की होगी जब उसे भूख-प्यास-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाने के उपादान मिले होंगे, उसके विश्राम के साथ; ऐसी कृति, जो यथार्थ की अनुकृति की चेष्टा में अवतरित हुई। ऐसी कृति, जो भूख-प्यास की तीव्र इच्छाओं के विरुद्ध किसी ऐसे भाव के कारण अभिव्यक्ति पा सकी जिस भाव में किसी राग-तत्त्व का कुछ-न-कुछ समावेश अवश्य था।

उपयोगी अभिव्यक्ति के आरम्भिक तत्व ही कला के बीज की उद्भावना करते हैं। यही विकसित होकर संस्कार ग्रहण करते हुए उपयोगी कला के रूप में प्रतिफलित हुए। उनमें उपभोगी तत्त्व अथवा काम में आने वाली वस्तुओं के साथ उपयोगी तत्त्व अथवा मानसिक सौष्ठव की भावना को संतुष्ट करने की रागात्मक सामग्री भी संयोजित थी।

३. ललित—उपभोग और उपयोग दोनों से ऊपर उठकर जो कृतित्व हुआ, वह।

ललित कला का जन्म

उपभोग से ऊपर उठाकर उपयोग योग्य बनाने के प्रयत्न ने उपभोग्य

1. "This art centred round the wild animals that they hunted for food. They engraved and then printed on the walls and ceilings of the cavern where they lived, not in the entrance, but in deep dark recesses, pictures of the bison, wild boar, cave bear, deer, and so on. It seems probable that this art was concerned with food supply that the representation of an animal desired for food helped in some way, in its Capture." *(The Growth of Civilisation by W. J. Perry)*

वस्तुओं में एक सौष्ठव और एक परिष्कार उत्पन्न किया। इस प्रकार उपयोगिता का भाव लालित्य अथवा सौन्दर्य की अनुभूति को उत्कीर्ण करने में परिणत और विकसित हो गया। इस प्रकार उस अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठा हुई जो आज यथार्थ में कला अथवा ललित कला कहलाती है। यही कला के विकास का मूल है। प्रश्न यह है कि उपभोगी अवस्था से उपयोगी और उससे ललित अवस्था कैसे आयी ? दूसरे शब्दों में सौन्दर्यानुभूति का जन्म कैसे हुआ ? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा जा सकता है कि यह विवर्त्तन अथवा विकास पहले तो प्रकृति के परामर्श से हुआ। प्रकृति में उसे सुन्दर-असुन्दर का संयोग सर्वत्र मिला। सुन्दर ने उसे प्रसन्न और विमोहित किया, रत होने (रति) के लिए निमंत्रण दिया। असुन्दर ने उसे धक्का दिया और कुरुचि उत्पन्न की। उसके मन में सुन्दर का अनुकरण और संचय करने और असुन्दर का त्याग करने का भाव जागृत हुआ। उसकी कृतियाँ उसी सुन्दर की अनुकृति का रूप ग्रहण करने की ओर अग्रसर हुईं। किन्तु मात्र अनुकृति से कला का स्थूल रूप ही प्रस्तुत हो सकता है, उसकी रूप-रेखा ही आ सकती है, उसमें प्राण नहीं आ सकते। आरम्भ में इस प्राण का आविर्भाव संयोग अथवा दैवयोग से ही हुआ होगा। प्रकृति की अनुकृति में प्रवृत्त मनुष्य की प्रतिभा ने अनायास ही कोई अनोखा रूप प्रस्तुत कर दिया होगा, जिसने उसे चमत्कृत कर दिया होगा। उसने प्रकृति को देखा होगा और स्वकृति (अपनी कृति) को; तब उसे निस्संदेह यह अनुभव हुआ होगा कि प्रकृति से स्वकृति सुन्दर है और वह उसकी अपनी सृष्टि है। अपनी होने का मोह सम्भवतः उसमें उत्पन्न हो गया होगा। अब वह अपने को प्रकृति से भिन्न समझने लगा होगा। यहीं उसे प्रकृति से बाधाएँ मिलीं होगीं। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रकृति के सहयोग के साथ विरोध भी मिला होगा, अड़चनें भी। इससे उसमें असन्तोष भी पैदा हुआ होगा, तब उसने उसकी पूर्ति का प्रयत्न किया होगा। उस प्रयत्न में उसकी धीरे-धीरे आस्था होने लगी। अब वह प्रकृति की पूर्ति में संलग्न हुआ होगा। ऐसी स्थिति में ही कला की यह परिभाषा होती है—"जो अपूर्ण है कला उसी की पूर्ति है"— साकेत।

किन्तु प्रथम अवस्था में अपूर्ण की पूर्ति का साधन अनुकृति ही रहा होगा। पूर्ति का यह उद्योग मनुष्य को अनोखे मानसिक चैतन्य के लिए विवश कर रहा होगा। उसके मन में प्रकृति के अलग-अलग पदार्थों के मानसिक अद्‌भुत संयोग उत्पन्न हो रहे होंगे और मिट रहे होंगे। यहीं उसकी कल्पना-शक्ति की उद्‌भावना हुई होगी। यह कल्पना-तत्त्व ही कला का विशेष उपकारक है।

कल्पना का मनोविज्ञान

कल्पना एक मानसिक व्यापार है मस्तिष्क के द्वारा मन कितने ही व्यापार सम्पादित करता है, जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं :—

१—एक ओर जगत् है, दूसरी ओर मानस है।

२—मानस ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जगत् से सम्पर्क प्राप्त करता है।

३—यह प्रथम सम्पर्क इन्द्रिय-ज्ञान होता है। चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा तथा त्वचा जगत् का जो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं, और जिसे किसी पूर्व के अनुभव का सहयोग नहीं होता वह इन्द्रिय-ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान वस्तुतः ज्ञान की सीमा को छूता है।

४—इन्द्रिय-ज्ञान मानस के स्मृति-कोष में समा जाता है।

५—पुनः इन्द्रिय-ज्ञान होने पर पिछले स्मरण के सहयोग से कुछ समझने योग्य रूप तैयार होता है, यह परिज्ञान है।

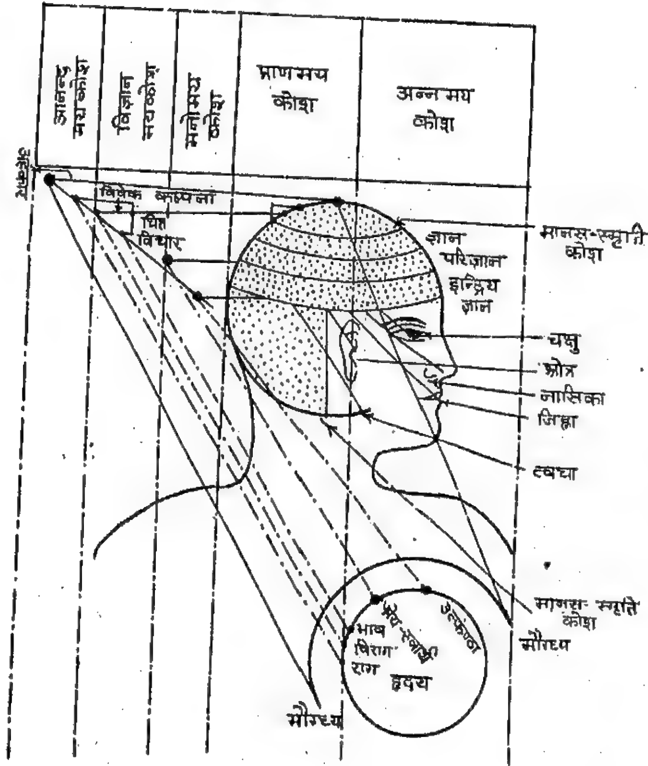
६—इस प्रकार का परिज्ञान पुनः-पुनः समृद्ध होता जाता है। पुराने अनुभव, नये अनुभव, इनसे बने विविध रूप, ये सब ज्ञान हो जाते हैं। मनुष्य जानकार अथवा ज्ञानवान कहा जाने लगता है। प्रत्येक ज्ञान की पृष्ठभूमि स्मृति होती है और नया अनुभव उसे उद्वेलित करता रहता है।

७—ज्ञान-ग्रहण तक शुद्ध सत् का भाव रहता है, जो-कुछ भी सामने आता है इन्द्रियाँ ग्रहण करती जाती हैं। वह मानस-कोष में एकत्रित हो जाता है।

८—ज्ञान-सम्पादन में मस्तिष्क में प्रायः तीन प्रक्रियाएँ होती देखी जाती हैं—

(अ) इन्द्रिय-ज्ञान से प्राप्त अनुभव सामग्री।

कल्पना


आनन्द मय कोश
विज्ञान मय कोश
मनोमय कोश
प्राणमय कोश
अन्न मय कोश
विवेक कल्पना
चित्त
विचार
ज्ञान
परिज्ञान
इन्द्रिय ज्ञान
मानस-स्फूर्ति कोश
चक्षु
श्रोत्र
नासिका
जिह्वा
त्वचा
सौन्दर्य
भाव
विराग
राग
हृदय
सौन्दर्य

कल्पना

(आ) परिज्ञान से उद्मुदित तुलनात्मक चेतना स्वयं प्रेरित होती है अतः मात्र सत् अथवा जड़ की ही एक गति है।

(इ) बोध-सामग्री तथा तुलना से सहज ही कोई निष्कर्ष उपलब्ध हो जाता है, यह रूपात्मक हो सकता है अथवा केवल सूक्ष्म भाव-सम्बन्धी हो सकता है।

९—अतः ज्ञान-सम्पादन की क्रिया से स्वयमेव एक चेतना तथा बोध उदय होता है। इससे मनुष्य के 'स्व' का निर्माण होता है और 'पर' से भेद स्पष्ट होने लगता है।

१०—प्रकृति-दत्त आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की सहजात प्रवृत्ति इस स्व को और अधिक पुष्ट करती है। तुलना और बोध में स्व का मूल केन्द्र स्व की दृष्टि से ग्राह्य और अग्राह्य की भावना को जन्म देता है। भावना विशेष गतिवान होकर बुद्धि का रूप ग्रहण कर लेती है। यह बुद्धि तुलना और बोध से बहुत काम लेती है। वस्तु के नाम-रूप से भी सूक्ष्म भावों को जागृत करने का कारण बन जाती है।

११—बुद्धि की गति को विचार कहते हैं। क्योंकि स्व की व्यष्टि-निबद्ध बुद्धि स्व और पर का भेद प्रत्येक ज्ञान में स्थापित करना चाहती है। ये स्व और पर प्रश्न रूप में उसके समक्ष खड़े होते हैं। प्रश्न अपने साथ विचार लाता है।

१२—मनुष्य में जहाँ आत्म-निर्माण और आत्म-रक्षा की भावना सहजात है, वहाँ आत्म-समर्पण अथवा तादात्म्य का भी भाव सहजात है। मनुष्य का विचार 'स्व' और 'पर' के चिन्तन में मग्न कभी दोनों को भिन्न कभी अभिन्न देखता है। वह यह चाहता है कि दोनों स्वरूप स्थिर रहें—क्या किसका है इसे वह निश्चय नहीं कर सकता, तब विवेक का उद्भव होता है। विचार तुलना का चेतन रूप है, बोध का चेतन रूप विवेक है। विचार और विवेक से चित्त अथवा चैतन्य की वृत्ति पूर्ण बलवती होने लगती है।

१३—बलवती चेतना में बड़ी गति और चञ्चलता रहती है। यह उदय होकर मानस और मस्तिष्क की प्रत्येक प्रवृत्ति पर शासन जमाती है और प्रेरणा देती है। यही चेतना इसलिए व्यग्र रहती है कि आत्म-साक्षात्कार किया

जाय । यह अपनी गति और व्यग्रता से उपलब्ध सामग्री से अपनी मौलिक चाह के सन्तोष के निमित्त स्वयं कितने ही रूपों का निर्माण करने के लिए प्रवृत्त होती है, यही आनन्द के लिए उत्कण्ठित होती है। चेतना का यह आत्मरूप उद्योग ही कल्पना है, यह कल्पना ही चेतना का यथार्थ लक्षण है। इसी की जब ऊर्ध्व गति होती है तब आनन्द की अनुभूति हो पाती है। यहीं इसी के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खड़ा कर सकता है। यहीं वह कुछ सृजन करने का दावा कर सकता है।

१४—चित्त की तीसरी वृत्ति 'कल्पना' ही सृजन भाव का उद्रेक करके मनुष्य के अहंकार को अवस्थित करती है।

इस विवेचन से कल्पना का मनोवैज्ञानिक रूप स्थिर होता है। भारतीय ऋषियों ने समस्त सृष्टि में तीन स्थितियों की परि-कल्पना की। उन्होंने उन तीनों के द्वारा ही ब्रह्म—सृष्टि के विराट तथा सृष्टि के मूल को नामकरण करके सच्चिदानन्द कहा, सत् चित्, और आनन्द। मानसिक क्षेत्र में शोध से ज्ञात होता है कि कुछ मानसिक वृत्तियाँ केवल सत् हैं—मन और बुद्धि तक हम सत मान सकते हैं। कारण यह है कि ये वृत्तियाँ शरीर के अन्य आवश्यक धर्मों की भाँति शारीरिक सत्ता से सम्बद्ध हैं। इनमें स्वयं कर्तृत्व न होकर ग्राहिका शक्ति विशेष है। भारतीय दार्शनिकों ने इसीलिए मन तथा बुद्धि के उपरान्त चित्त को माना। चित्त ही मनुष्य की चेतन-वृत्ति है। यही मनुष्य को विचार, विवेक और कल्पना से युक्त करती है। विचार और विवेक तक मनुष्य का चेतन मानस पदार्थ की जड़ सीमाओं से घिरा रहता है। कल्पना के लिए जड़ जगत् से अतिरिक्त चेतन जगत् की सत्ता भी है।

और इसी चेतन जगत् अथवा सत्ता की शक्ति और उसके कर्तृत्व को कल्पना प्रकट करना चाहती है। वह स्वयं निर्माण में प्रवृत्त होना चाहती है। सामग्री ज्ञान-राशि के रूप में उसे प्राप्त है। उसका वह स्वच्छन्दतापूर्वक उप-योग करना चाहती है। वह बन्धनों को बन्धन रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। चित्त की यही वृत्ति है। जो मानस-क्षेत्र में अहंकार को उभारती है, आध्या-त्मिक में आनन्द की शोध करती है और आनन्द को मिलाती है। यहीं हम यह

समझ सकते हैं कि मनुष्य के विकास और उसके जीवन को सजीव बनाने के लिए कल्पना अनिवार्य है।

किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से केवल मानसिक वृत्तियों का निरूपण ही पर्याप्त नहीं होता, भाव भी एक आवश्यक तत्त्व है, और उसे मनोविज्ञान में महत्त्व प्राप्त है। भावों में आरम्भिक स्थान औत्सुक्य अथवा उत्कण्ठा का होना चाहिये। ज्ञान अथवा अनुभव-सम्पादन के लिए इसके बिना तत्परता नहीं हो सकती। दूसरा स्थान भावों का है। भावोपरान्त राग। यही राग रस और अलौकिक आनन्द में परिणति पा लेता है। मन का सम्बन्ध उत्कण्ठा से होगा, बुद्धि का स्वार्थ-श्रेय से, स्व से; चित्त की विचार-वृत्ति का भाव से, विवेक का विराग से और कल्पना का राग से। इस दृष्टि से कल्पना मन और भाव दोनों से आनन्दमय होने के लिए मानव को प्रस्तुत कर देती है।

कल्पना और आनन्द

कल्पना मनुष्य के ज्ञान और अनुभव की सामग्री से मनचाहे रूप प्रस्तुत करती है। ऐसा करने में कल्पना एक पावन आध्यात्मिक कर्म करती होती है। वह ऐसे रूप गढ़ती है जो 'स्व' के होते हुए भी 'पर' के हो जाते हैं और 'पर' के होकर भी 'स्व' के होने का दावा करते हैं। कल्पना ही स्व और पर के बीच की भित्ति को ढहा देती है। स्व का पर में और पर का स्व में तादात्म्य और समाहार कर देती है। यही साधारणीकरण का व्यापार है। यह बिना कल्पना के सम्भव नहीं। स्व और पर के तादात्म्य और समाहार का एक अर्थ है अहं का परम में विलीन हो जाना। कल्पना चित्त अथवा चेतन की सबसे प्रधान और प्रमुख वृत्ति है। यह समस्त वृत्तियों से ऊपर अपने सृजनशील चमत्कार से सभी वृत्तियों को अभिभूत कर लेती है। कल्पना में मानव के मानसिक व्यक्तित्व का सम्पूर्णत्व प्रतिष्ठित हो जाता है और मानव में जो विधायक मौलिक वृत्ति है उसका उत्कर्ष हो उठता है। इन दोनों से ही मानव का निजी व्यक्तित्व और उसका मोह व्युत्पन्न होता है। यही अहं की स्थिति है और मानव को होने वाली इसकी अनुभूति अहंकार है। अहंकार में समस्त व्यक्ति समा जाता है। उधर अहं से अतिरिक्त मानव के निजी व्यक्तित्व से बाहर जो पर की पराकाष्ठा है वह तत्त्व परम तत्त्व है, व्यष्टि का चरम अहं

समष्टि का चरम है परम। अहं जिस प्रकार मन-बुद्धि से सत् पर आरूढ़ चित्त के उत्कृष्ट चरण पर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार सृष्टि का और समष्टि का परम भी प्रकृति के सत् और पुरुष के चित् के ऊपर अधिष्ठित है। कल्पना का यह अहं परम के साथ सम्बद्ध होकर ही कला को मूर्त रूप प्रदान करता है। इसी कारण प्रत्येक कलावस्तु में अहं पर परम अथवा परम पर अहं या व्यक्तित्व की गहरी मुद्रा रहती है और उसी मुद्रा के कारण वह परम कलामय हो पाता है, यों कला उद्भूत होकर विकास की ओर अग्रसर होती है। कल्पना मन और बुद्धि की जड़ता को उच्छिन्न करके अहं को परम् के आनन्द में और परम् के आनन्द को अहं के व्यक्तित्व की पुटी में उँडेल देती है। यही अहं-परम् का द्वैत कला में मूर्तिमान अद्वैतता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कला यथार्थ रूप में कला बनने लगती है।[1]

ललित अभिव्यक्ति के प्रकार

तब कला का स्वतन्त्र विकास आरम्भ हुआ। ललित अभिव्यक्तियाँ अपना पृथक्-पृथक स्वरूप निर्माण करने लगीं। ये ललित अभिव्यक्तियाँ शरीरीय रूप में चार प्रकार ग्रहण कर सकीं।

१—**नाट्य**—समस्त शरीर जब किसी भाव की अभिव्यक्ति में कोई मुद्रा-विशेष ग्रहण करता है तो उसे नाट्य कहते हैं।

२—**नृत्य**—कर-पद जब एक लय के साथ एक विशेष गति-सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं तब उसे नृत्य कहते हैं।

३—**गीत**—वाणी के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति को सुन्दरतम स्वर-लहरियों में अभिमण्डित करना।

४—**काव्य**—वाणी के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति को अर्थ-सौन्दर्य से परिपूर्ण करना।

शरीर-सम्बन्धी इन अभिव्यक्तियों की कला में यह द्रष्टव्य है कि इनमें से दो का सम्बन्ध वस्तुतः स्वरूप अथवा रूप-सौन्दर्य से है और दो का उस रूप-सौन्दर्य को अर्थ-भाव-सम्पत्ति से आविष्ट करके उसके आन्तरिक अर्थभाव के

१—देखिये 'कला, कल्पना और साहित्य' पृष्ठ ६-१२

सौन्दर्य से है। विकास-क्रम से सम्भवतः पहले नृत्य और गीत उदित हुए होंगे और तब इनमें भाव और अर्थ-सम्पत्ति का आरोप किया गया होगा।

तरलता के साथ थिरकने में एक अर्थ-हीन सौन्दर्य है, जो केवल इसलिए आदिम मानव के आकर्षण का विषय बना होगा कि वह ललित है, मधुर है, आकर्षक है। बाद में उसमें भावाभिव्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी, क्योंकि भावाभिव्यक्ति से उस एकतान-कला में वैविध्य आया; केवल नेत्र-कर्ण के विषय का ही नहीं मन-मस्तिष्क का विषय भी उसमें समाविष्ट हुआ। फलतः शरीर-मन दोनों को उससे सन्तोष हो सका। वह पूर्ण होता हुआ दिखायी पड़ा। समाज की दृष्टि से उक्त अर्थ-हीन कला, निरर्थक शब्दों की भाँति किसी क्षणिक मनोवेग की प्रतिफलित अभिव्यक्ति-मात्र हो सकती थी। उसमें समाजोपयोगी प्रेषणीयता का अभाव था। भाव के समावेश से उसमें समाजोपयोगी प्रेषणीयता का भी समावेश हुआ।

यही स्थिति वाणी-विलास के रूप 'गीत' और 'काव्य' की थी। गीत पहले हुआ काव्य बाद में। गीत>गीतिकाव्य>काव्य यह निरर्थक वाणी-विलास से सार्थक वाणी-विलास तक आने का मार्ग रहा। इसी स्थल पर पहुँच जाने पर संस्कृत के महानाचार्य भामह ने घोषणा की—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" और यही काव्य की एक प्रकार से पहली परिभाषा हुई।[1]

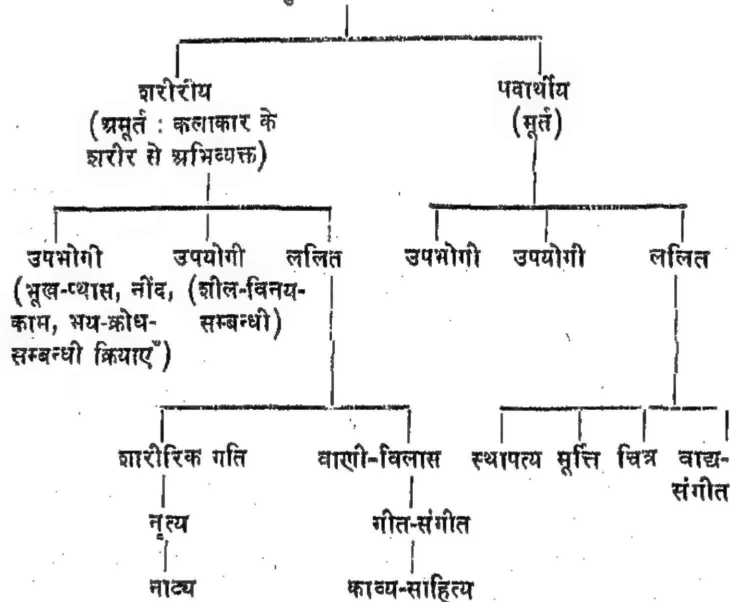
यही काव्य-सम्पत्ति पद्य और गद्य-रूप में विकसित होती गयी और यह समस्त सर्जना एक दूसरे नाम से अभिहित हुई; साहित्य भी यही है।

---

१. कला का यह शरीरीय विवेचन हुआ। अशरीरीय अथवा पदार्थीय अथवा वस्तुनिष्ठ कलाएँ वे हैं जिनमें मनुष्य अपने द्वारा किसी बाह्य पदार्थ में किसी लालित्य अथवा सौन्दर्य की अभिव्यंजना प्रस्तुत कर देता है। इन्हीं कलाओं का आधार मूर्त्त आधार होता है। इन कलाओं में स्थापत्य, मूर्ति, चित्र-कला तथा वाद्य-संगीत की गिनती है। इन कलाओं के विकास को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

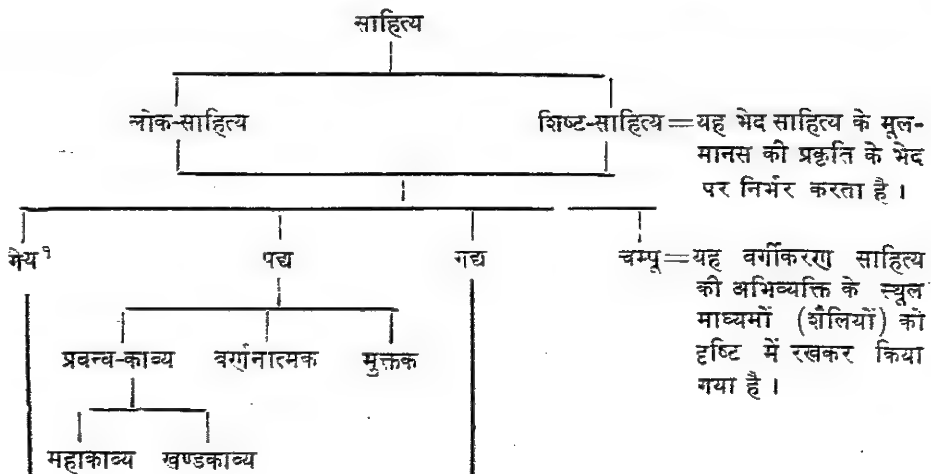
भारत में साहित्य-विकास

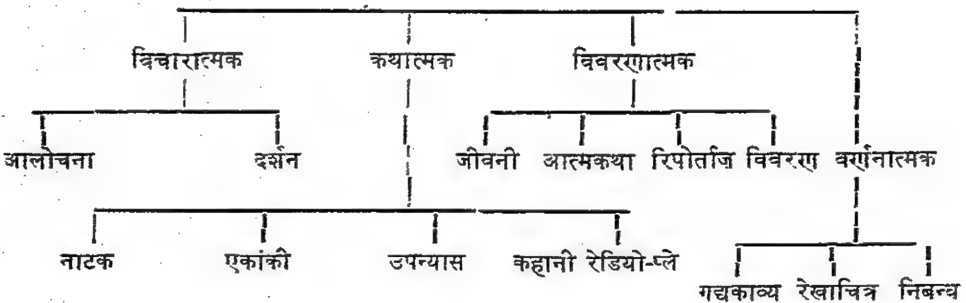
आदि काल से साहित्य की सृष्टि होती आयी है और तब से अब तक के सम्पूर्ण समय को विविध युगों में विभाजित करके यह सिद्ध किया जाता रहा है कि जहाँ जगत् में परिवर्तन होते हैं वहाँ साहित्य में भी होते हैं। यद्यपि



इस वैज्ञानिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्तियों के दो मूल होने के कारण कलाओं के भी दो स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं। और दोनों की श्रेष्ठता को पृथक् कसौटियों से जाँचना आवश्यक है। केवल 'मूर्त-आधार' से चित्र और काव्य की श्रेष्ठता की तुलना नहीं की जा सकती, संगीत में और गीत में अन्तर है। दोनों एक नहीं। संगीत को गीत के साथ जोड़कर गीत का आधार वाद्य यन्त्रों को मानना भारी भूल है। वाद्य तो गीत का उसी प्रकार मात्र सहायक और उत्कर्षक है जिस प्रकार यही वाद्य नृत्य अथवा नाट्य में सहायक है।

किन्तु यह बिभाजन आज समीचीन नहीं, आज तो साहित्य को हम निम्नलिखित रूपों में विभाजित देखते हैं—





१. गेय को पद्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। दोनों के निर्माण-तत्त्वों में मौलिक भेद है। एक का आधार है स्वर के लययुक्त आरोह-अवरोह से सन्तुलित स्वर-लहरी। दूसरे का आधार है सन्तुलित शब्द-योजना।

साहित्यकार समय से बँधा नहीं होता, वह जो लिखता है वह सभी सामयिक-मात्र नहीं होता, सामयिकता से भी कुछ अधिक उसकी कृतियों में हमें मिलता है। तभी शताब्दियों पुरानी कृतियों में हमें नवीनता और आनन्द आज भी पढ़ने और देखने पर मिलता है। उसी नवीनता में सार्वभौम सौन्दर्य और सत्य रहता है। अतः साहित्य-स्रष्टा समय का क्रीत दास नहीं। समय से उसे सजग जीवन-तत्त्व प्राप्त होते हैं। और वह भोक्ता की भाँति उन्हें ग्रहण कर के रस बनाकर उन्हें सौन्दर्य और शक्ति से परिपूर्ण कर देता है।

राजनीति और समाज-नीति, इतिहास-चक्र और अर्थ-चक्र सभी की ओर उसकी दृष्टि रहती है; पर वहीं तक न रह कर उसकी दृष्टि उस यथार्थ में से होकर, उससे आगे के महार्थ को उपस्थित करने में सचेष्ट रहती है। इस प्रकार वह समय को प्रभावित भी करता है ओर नव-नव क्रान्तियों का अग्रदूत हो जाता है। जो जातियाँ सदा स्वस्थ रहना चाहती हैं और अपने गति-अवरोध से पैदा होने वाली दुर्गन्ध तथा सड़ायँद को पसन्द नहीं करतीं, जिनको, स्फूर्ति और ताजगी में ही जीवन का आनन्द मिलता है, ठहर कर कुण्ठित और क्षुब्ध होने में नहीं, वे जाग्रत जातियाँ साहित्यकारों पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगातीं। वे उनका आदर करती हैं, वे उन्हें मुक्त वातावरण प्रदान कर मुक्त भाव से, मुक्त कथन के लिए प्रोत्साहित करती हैं और इस विधि से देश और जाति को नवीन सुन्दर क्षेत्रों में से ले जाती हुई सभ्यता के उत्कर्ष में सहायक होती हैं।

उधर वह साहित्यकार, जो मुक्त वातावरण में पला होता है, अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करने लगता है। वह कभी एक शब्द भी ऐसा नहीं निकालता जो शक्ति-शून्य अथवा अनर्गल हो। वह अपने युग की व्यथा को अपने अन्दर संचित करके शाश्वत वेदना को जन्म देता है, अपने युग का विषपान करके चिरकालीन अमृत उँडेल जाता है। अतः अचिर और चिर का गठजोड़ा साहित्यकार में मिलता है। तभी, साहित्य-चिन्ता युगों में भी विभाजित हो जाती है, तभी उसका कोई भी युग नहीं होता।

भारत की साहित्य-चिन्ता में हमें ऐसे कई युग प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं।

वैदिक काल के साहित्य-चिन्तकों ने मानवातिरिक्त जगत् में दिव्य शक्तियों

को दैव मानकर उनका अभिनन्दन किया। स्तुति और प्रार्थना तथा हवि को उस युग का अस्त्र बनाया। यज्ञ उनका प्रतीक हुआ। वस्तुतः यह शुद्ध धार्मिक काल था। इस युग के जीवन का केन्द्रीय समीकरण यही था।

उपनिषद्-काल में देव ब्रह्म हो गया। 'ब्राह्मण' अस्त्र बना। उपासना इस संस्कृति का प्रतीक बनी। धार्मिक शुद्धता कम होने लगी।

पुराण-काल में धार्मिक शुद्धता विलुप्त हो गयी। धार्मिक शोषण प्रबल हो उठा। मानव स्वयं शक्ति-केन्द्र बना। राजा और वीर इस युग के मान्य बने; पशु-शक्ति ने साधन का स्थान ग्रहण किया। समाज के प्रश्न विकट हो उठे।

बौद्ध-काल में मानवीय शक्ति और मानवीय दिव्यता में विश्वास होने लगा। हृदय-जगत् का शासन श्रेष्ठ समझा गया। वास्तविक अध्यात्म प्रत्यक्ष हुआ। भाईचारे का संगठन संघ में हुआ। संघ इस काल का प्रतीक हो गया।

मौलिक युग यहाँ समाप्त हो गये। इसके बाद गुप्त-काल आया। इस काल में आदर्श प्रधान बना। प्राचीनों के प्रति अटूट श्रद्धा को मन्त्र बनाया गया। सामाजिक शोषण की नींव पड़ी। धर्म ने तलवार का वरण कर लिया। दिग्विजय प्रतीक बन गया। राज-भक्ति में शक्ति समझ पड़ी।

राजपूत-काल में दैव-कृपा प्रतीक की भाँति ग्रहण की गयी। केन्द्र से शक्ति परिधि की ओर गयी। मनुष्य के वचनों को महत्त्व मिला।

मुसलमानी-काल प्रचार-युग हुआ। पूजा ने इस काल में प्रतीक का स्थान लिया। धर्म-परिवर्तन 'साधन' बना।

यहाँ तक का इतिहास हमें यह बताता है कि मौलिक युगों और अमौलिक युगों में मानव और उसका अध्यात्म प्रधान रहा। वेदों के साहित्यक ने मान और कसौटी के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम के चार पदार्थों में यथार्थ आदर्श उपस्थित किया। इन सबका मूल रहा धर्म। उपनिषद्-काल के साहित्यिक ने ब्रह्म ढूँढ निकाला और सारे जगत् को उसी के प्रति उन्मुख कर दिया।

महाकाव्य-काल में साहित्य-चिन्तक ने घटनाओं और जगत्-व्यापार को भिन्न दृष्टि से देखना आरम्भ किया। एक नई बात व्याख्या करने के लिए निकाली गयी। महाभारत एक बहुमुखी साहित्यिक क्रान्ति का ग्रन्थ है।

रामायण और महाभारत की सभ्यता में लौकिकता को प्रधानता दी गयी। वाल्मीकि से लौकिक काव्य का प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि के चरित्रों में स्वाभाविकता है। क्षत्रियत्व का बल बढ़ रहा है। साहित्यिकता और दुर्वृत्ति में संघर्ष तो प्रारम्भ हो गया है फिर भी अर्थ का महत्त्व नहीं है। महाभारत-काल में अर्थ का महत्त्व मान्य हो चला है। राजनीति की प्रधानता प्रारम्भ होती है। वैदिक देवता इन्द्र का इस युग में लौकिकता से संघर्ष हो रहा था। श्री कृष्ण ने इन्द्र के विरुद्ध गोवर्द्धन की पूजा करायी।

बौद्ध-काल ने उस लौकिकता का भी अर्थ बदला, उस काल के साहित्यिक ने भी लौकिकता का अर्थ बदला। उस काल के साहित्यिक ने आध्यात्मिक आचार के स्थान पर नैतिक आचार को प्राधान्य दिया। यहाँ तक नये आदर्शों की सृष्टि की गयी। इससे आगे इन आदर्शों की व्याख्याएँ ही हुईं, यहाँ तक कि हम विविध व्याख्याओं का पठन करते, विविध मेधावी साहित्यिकों को प्राचीनों का अर्थ लगाते और शोध करते छोड़कर एकदम आज के युग में आ जाते हैं,[1] क्योंकि वहाँ से यहाँ तक एक ही प्रवृत्ति व्याप्त मिलती है।

यहाँ एक बात बिलकुल स्पष्ट दिखायी पड़ती है। अब तक मानव और उसकी दृष्टि से समस्त जगत् को समझने की चेष्टा थी। मानव का धर्म-अधर्म ही, उसके पारस्परिक व्यवहारों की नीति-अनीति ही उसके हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश का उत्तरदायी था। साहित्य-चिन्तक यहाँ तक, वैदिक काल के बाद से, राजनीतिकता और ऐश्वर्य (ऑलीगार्की) को देखता था। ईश्वरीय राज्य (डिवाइन किंगडम) का स्वप्न देखता था, उसी का अंकन करता था, उसी के आदर्श सामने रखता था।

अब दृष्टि उलटी, अर्थ की दृष्टि से मानव देखा जाने लगा। मानव ने अपने दृष्टिकोण से सबको देखते-देखते जगत् के अर्थ को स्वार्थ बना लिया और ईशोपनिषद् का आदेश कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्' उसी में लिखा रह गया। इस प्रकार एक यथार्थ क्रान्ति प्रस्तुत हुई, और सभी अभिव्यक्तियों के मान बदल गये, साहित्य के भी।

---

१. देखिये 'कला, कल्पना और साहित्य', पृष्ठ १४-१६।

साहित्य और समाज

अब हम साहित्य और समाज के सम्बन्ध को भली प्रकार समझ सकते हैं। समाज का निर्माण मनुष्य ने किया है और वह निर्माण स्वयं एक व्यक्तित्व ग्रहण करता चला गया है। समाज के इस व्यक्तित्व से आगे बढ़कर स्वयं मनुष्य को संघर्ष करना पड़ा है। इस प्रकार मनुष्य की दृष्टि को केन्द्र मानकर देखा जाय तो उसकी अपेक्षा से संसार में चार प्रबल शक्तियाँ विद्यमान मिलती हैं—

१. मनुष्य की निजी पार्थिव शक्ति—इसे हम प्रतिभा-बल अथवा व्यक्ति-शक्ति (दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व भी) कह सकते हैं।

२. मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति।

३. मनुष्येतर प्रकृति की शक्ति—इसे हम प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक शक्ति कह सकते हैं।

४. समाज के व्यक्तित्व की शक्ति।

सभ्यता, संस्कृति और कला के विकास का मूल इन तीनों के ही पारस्परिक सम्बन्ध और संघर्ष में निहित है। उपभोग, उपयोग और ललित की विकास श्रेणी में ही नहीं प्रत्युत समस्त विकास में ही हमें किसी चैतन्य की प्रगति का आभास मिलता है। इस 'प्रगति' में है पहले अर्जन (उद्योग), फिर संचय (उपभोग) तब निर्माण (उपयोग) और अन्ततः उपलब्धि (आत्म-उपलब्धि)—किसी ऐसी साकार या निराकार वस्तु की प्राप्ति जिसे पाकर वह कह उठे कि बस इससे 'पूर्ण और 'परम्' तथा ऊपर अन्य कुछ हो ही नहीं सकता।

अर्जन प्राथमिक अवस्था है। इसमें मनुष्य सीधा प्रकृति से सम्पर्क रखता है। इस अवस्था में प्रकृति उसकी धात्री है। वह प्रकृति से अपने को विलग नहीं कर सकता।

संचय की अवस्था में वह प्रकृति की देन का कृतज्ञ होता हुआ भी उससे विलगाव अनुभव करने लगता है। अर्जन की मात्रा कभी आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है, तो यह प्रचुरता उसे उस वस्तु यानी उद्योग के फल में केन्द्रित करती है, तब वह वस्तु के रूप में अपनी अभिव्यक्ति को देखता है। अपने

सम्बन्ध में उसे चैतन्य प्राप्त होता है। उसका अहं जागृत हो उठता है। सब्जैक्टिव कांशसनैस——आत्म-चेतनता उदय होती है। फलतः पहली अवस्था में जहाँ अर्जन, उद्योग तथा उपभोग अभिन्न थे वहाँ अर्जन साधन का रूप ग्रहण करने लगता है और उपभोग साध्य का। "मेरे लिए यह वस्तु है" ऐसा भाव उदय होता है। इस 'मैं' के भाव के साथ जब वह यह सोचने लगता है कि मैं इसे बना सकता हूँ यानी उसमें कोई उपयोगिता पैदा कर सकता हूँ तो उसमें निर्माण-चैतन्य जागृत होता है।

इसी माध्यम से ही व्यष्टि-व्यक्ति समष्टि-समाज में व्याप्ति पाता है, और समष्टि-समाज व्यष्टि-व्यक्ति में परिणत। व्यष्टि-व्यक्ति और समष्टि-समाज की प्रतिक्रिया की व्यष्टि-व्यक्ति में परिणति की रागात्मक अभिव्यक्ति ही साहित्य है। प्रकृति उसकी पृष्ठभूमि है। समाज का रस ही व्यक्ति के प्रतिभा-बीज का पोषण कर साहित्य का पादप देता है।

निर्माण की अवस्था यहीं से आरम्भ होती है। शुद्ध आर्थिक उपयोगिताओं में ही कलात्मक उपयोगिता का बीज है। क्योंकि आर्थिक निर्माण ही निर्माण का भाव जागृत करता है। इसी निर्माण-भाव का व्यापक उपयोग जीवन में होने लगता है। तब मनुष्य सोचता है कि वह चाहता क्या है। वह अभाव और भाव, अपूर्ण और पूर्ण को अन्वय-व्यतिरेक के विवेक से समझने के लिए बाध्य होता है। तभी उसमें 'कल्पना' जागृत होती है। इसी कल्पना-जाग्रति में सौन्दर्य की अनुभूति समाहित है। इसके जागरण से ही कला का जागरण आरम्भ होता है। कल्पना की जागृति में आत्मोपलब्धि (सैल्फ-रिअलाइजेशन) का भाव सन्निहित है।

इस उपलब्धि के लिए मनुष्य को अपने से अतिरिक्त समाज तथा प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। निर्माण का भाव पैदा होते ही मनुष्य ने यथार्थ में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का युद्ध आरम्भ कर दिया। इस युद्ध में विजय पाने के लिए एक ओर विज्ञान और उसके आविष्कारों तथा पदार्थ-विलास का उदय हुआ; दूसरी ओर आत्म-संयम का उदय हुआ—यानी उस प्रकृति पर विजय पाने का उद्योग आरम्भ हुआ जो मनुष्य में भी समायी हुई है। यहीं

मनुष्य के आन्तरिक संघर्ष का जन्म हुआ—शैतान और खुदा का, पशुता और मानवता का। अथवा पार्थिव तथा आध्यात्मिक का।

समाज का संघर्ष भी साथ-साथ चला। समाज का संघर्ष मनुष्य के व्यापारों और व्यवहारों की टकराहट से ही तो पैदा होता है। इस संघर्ष की दृष्टि से मनुष्य का पुनः द्विविभाजन हुआ : स्वार्थ-परमार्थ में और इसके कारण ही समाज में पाप तथा पुण्य की स्थापना हुई।

साहित्य मनुष्य की अभिव्यक्ति है, अतः वह इन दोनों संघर्षों के परिणाम से बच नहीं सकता। किन्तु साहित्य कल्पना-जागृत मनुष्य की अभिव्यक्ति है। इसमें उपलब्धि का भाव शेष समस्त कलाओं से अधिक शक्ति-सम्पन्न होता है इसमें मनुष्य और समाज को प्रेरणा देने की भी शक्ति आती है। मनुष्य के विकास और प्रगति में मनुष्य तथा समाज के सम्बन्धों को बदलने, सुधारने और संस्कृत तथा सुन्दर करने में भी इसका हाथ सर्वविध रहता है।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है। नहीं, वह उसकी शक्ति भी है। वह उसका नियन्ता भी है। वह उसका नेता भी है। वह उसका उपदेष्टा भी है। वह उसकी प्रगति का सूत्रधार भी है। वह उसका मनोरंजन भी है। वह उसकी आत्मोपलब्धि है। वह निज की पर में और पर की निज में विवृत्ति है।

युग की प्रक्रिया

साहित्य का युग से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। युग की प्रवृत्ति और प्रक्रिया की प्रतिक्रिया साहित्य पर बड़े वेग से होती है। अतः युग का प्रतिबिम्ब भी साहित्य में मिलता है। साहित्यकार के मानस में युग के अभाव भी स्पष्ट हो उठते हैं। युग अपने में पूर्ण नहीं है। उसके समस्त प्राकृतिक उपादान भी उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते। ये ही आवश्यकताएँ युग के आदर्श के रूप में साहित्य में विविध रूप धारण कर लेती हैं। साहित्यकार अपने चारों ओर की परिस्थिति को देखता है। वह सब उसके लिए हस्तामलक-वत् हो जाती हैं। और उसके विशद मानस-पट पर वह जिस लघुता के साथ अंकित होती है उससे उसके अभावों का रूप उग्र हो उठता है। साहित्यकार युग में प्रचलित विविध तत्वों में से कभी-कभी किसी विशेष तत्व को उभार

देता है । इन अभिप्रायों में ही साहित्य के कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती । वह अपनी समस्त मेधा से इन अभावों और आवश्यकताओं की पूर्ति की योजनाएँ भी अपनी कला से देता है । उसकी सौन्दर्यानुभूति कला को जब कला के लिए ही चित्रित करती होती है, कला को जब कला के लिए ही न्यौछावर करती होती है, तब वह अधिक-से-अधिक सापेक्ष से निरपेक्ष रूप की तुलना करती होती है; और उसमें जो सामग्री प्रस्तुत को पूर्ण बनाने के लिए होती है उसे उपस्थित करती होती है । आज तक जितना भी साहित्य-निर्माण हुआ है, उसमें जितने भी आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई है, वे पूर्ण-से-पूर्ण भी अपने युग के लिए ही पूर्ण कहे जा सकते हैं । साहित्यकार की मेधा की क्रान्तदर्शिनी दिव्य दृष्टि भी युग-युग से उद्भूत उसकी शक्ति का ही परिणाम होती है । वह मुख्यतः जिन आधारों पर बुद्धि के अपने तर्क को ले जाता है वे आधार एकदम युग की स्थूलतम वस्तुएँ होती हैं । युग के स्थूल तन्त्र से साहित्यकार की मेधा के तन्त्र का संघर्ष हो जाता है तो युग के वे स्थूल संकेत भी अपनी भूत तन्मात्राओं में भौतिक कारण-कार्य-परम्पराओं के द्वारा कुछ अर्थ ध्वनित करते हैं । साहित्यकार का मानस भी तथा उसका आन्तरिक तन्त्र भी गूँज उठता है । इसी गूँज में साहित्य का धर्म अन्तर्निहित है और यह गूँज युग के तन्त्र से ऊपर उठकर युग-युग के स्व-तन्त्र से सम्बन्धित हो जाती है । साधनों के घेरे में घिरकर इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति के जो नव निर्माण होते हैं, वे स्थूल पदार्थ-जगत् में ही परिणतियाँ नहीं पाते, मानसिक संस्थान भी वैसा ही हो जाता है और साहित्य का स्वरूप (From) भी बदलता है । यथार्थतः यह व्याख्या साहित्य की प्रेरणाओं की है, साहित्य की आत्मा की नहीं । अतः साहित्यकार की पहली आवश्यकता यह है कि वह युग को पहचाने । प्रत्येक युग के निर्माण में पदार्थ-तत्व और मानस-तत्त्व दोनों का अभिनिवेश होता है । मानस-तत्व को मैटीरियलिज्म के अनुसार पदार्थ-सम्भूत भी माना जाय तो वह एक पृथक् शक्ति तो फिर भी रहेगा ही । कितनी ही कार्य-कारण की ऐतिहासिक परम्पराओं से युग की कड़ियों का आधार सुनिश्चित किया जाय, प्रतिभाओं की दानवीयता की पर्याप्त व्याख्या नहीं हो सकती । बुद्ध ने, ईसा ने, मुहम्मद ने आज भी जो अपने लिए आदर का स्थान बना रखा है

वह मात्र ऐतिहासिक ही तो नहीं माना जा सकता । इन मेधावियों ने विश्व के मानव-समूह पर अपनी गहरी छाप डाली है और युग के रूप और अर्थ को बदला है । विशेषता यह है कि उनकी छाप ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप युग की सीमाओं में ही नहीं रह गयी । वे आज भी वैसे ही सजीव चले आरहे हैं जैसे तब थे । कवि आदिसृष्टा भी थे । उन्होंने जो नहीं था वह दिया । इन सृष्टाओं ने जीवन के लिए वह सिद्धान्त तथा वह आचार दिया जो पदार्थ-मय जगत् में मिलता ही नहीं । साहित्यकार इसी मानसिक शक्ति का माध्यम है, प्रतिनिधि है । वह यथार्थतः द्रष्टाओं से अधिक सृष्टाओं की परम्पराओं में आता है ।

साहित्य की जितनी भी परिभाषाएँ की जा सकती हैं, वे चाहे घोर पदार्थवादी द्वारा हों अथवा घोर अध्यात्मवादी द्वारा हों वे यही प्रकट करती हैं कि साहित्य के प्रधान तीन कर्म हैं : एक चित्र प्रस्तुत करना, दूसरा आदर्श उपस्थित करना, तीसरा मन को प्रवृत्त करना । साहित्य का निवृत्ति से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता । साहित्य के मूल में राग का प्राधान्य है । प्रकृति के व्यापारों में एक अनिवार्यता का भाव तो है, राग और इच्छा का उनमें अभाव है । फलतः मनुष्य के पास तीन तत्त्व विद्यमान है---प्रकृति-तत्त्व उसकी स्थूल प्रवृत्तियों का विषय और आधार है । मानस-तत्त्व उसमें सूक्ष्म विचार-जगत् की स्थापना करता है, उसे गति देने के लिए हैं । हृदय-तत्त्व राग का भण्डार है ।

इसको और भी स्थूल रूप में रखा जा सकता है । प्रकृति से सम्बन्धित देश-काल, उदय-अस्त, अचेतन अथवा जड़, सब सृष्टि के ही अंग हैं । बुद्धि और राग चेतन के धर्म हैं । सृष्टि में जड़-चेतन का संघर्ष है । संघर्ष का अर्थ पर-स्पर-विरोधी पक्ष ग्रहण करके उत्कर्षापकर्ष ही नहीं है, उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का रूप भी संघर्ष ही है । जड़-चेतन का यह द्वन्द्व सृष्टि में अनिवार्य है । चेतन को भले ही आस्तिकों और अध्यात्मवादियों की भाँति आदितत्त्व और परम-तत्त्व न माना जाय, उसे पदार्थवादी की भाँति पदार्थ से भी उद्भूत माना जा सकता है । इस प्रकार चैतन्य की पार्थिवता भी मान ली जाय तब भी

वह एक उत्कृष्ट पार्थिव शक्ति है और जड़ पार्थिव शक्तियों की अन्ध-स्थूल-गतियों की अपेक्षा इस चेतन पदार्थ को कई विशेषताएं प्राप्त हैं। उसकी तरलता उसका एक बड़ा गुण है, और यह तरलता अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त गतिवान है। यही कारण है कि मानव ने भीषण-से-भीषण जड़-शक्ति पर अपना अनुशासन कर रखा है। उसके आविष्कार, पदार्थ तथा पाशविक शक्ति के आविष्कार नहीं हैं, न वे आविष्कार-मात्र विकास के क्रम की कड़ियाँ हैं; वे आविष्कार हैं, अनुसन्धान हैं। अध्यात्मवादी का तो विश्वास ही इस बुद्धि-चेतन के मूल परम चेतन परमात्मा पर टिका हुआ है। साहित्यकार इसी क्षेत्र का व्यवसायी है। वही प्रकृति और पुरुष के यथार्थ मर्म का दर्शन कर सकता है। वही महान् अभीष्ट के लिए मानव को, उसके द्वारा समाज को, उसके द्वारा और उसके साथ प्रकृति को, जान सकता है। उसे युग के मर्म और धर्म को समझना होता है। धर्म है वर्तमान और मर्म है भविष्य का गर्भ, जो वर्तमान में स्थित है। निर्माण की रूप-रेखा मेधावी साहित्यकार ही बनाता है। गति देने की योजना वही सुझाता है। साहित्यकार का उत्तरदायित्व इसीलिए महान है, इसीलिए उसे आवश्यक है कि युग को, उसके मर्म और धर्म को भली प्रकार समझे। मर्म को चित्रित कर दे, धर्म का आदर्श और आदेश दे और इन्हें मानव के स्पन्दनों में घुला-मिलाकर एक वास्तविक गति बना दे।

साहित्य का धर्म

साहित्यकार मानवता का प्रकृष्ट दूत है, यह इसलिए नहीं कि वेदों में ईश्वर को कवि बताया गया है : "कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू", इसलिए भी नहीं कि आज का भौतिकवादी वैज्ञानिक मस्तिष्क को भूत-तत्त्वों का उन्नततम प्रतिबिम्ब और विकास मानता है, पर इसलिए कि अत्यन्त स्थूल दृष्टि से और मनःस्थितियों के प्रत्यक्ष अध्ययन से यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि साहित्यकार ही यथार्थ आदर्शों का निर्माणकर्ता है। परिस्थितियों के संघर्ष को साहित्यकार ही वाणी देता है। भौतिकवाद की दृष्टि से परिस्थितियों में विद्यमान अन्यथा विरोधी तत्त्वों का समझने योग्य निदर्शन वही कराता है और उन्हीं के अनुकूल उनमें व्याप्त ध्येय अथवा अभीष्ट को वही आदर्श बनाकर जगत् की गति का दिग्दर्शक बनता है। वही अध्यात्मवादियों की दृष्टि में उस परम तत्त्व

के मर्म को उद्‌घाटित करता है। वही अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला है। उसी के लिए समस्त पीड़ित मानवता की वह पुकार है "तमसो मा ज्योतिर्गमय", वही निश्चेष्ट जड़ता को क्रिया-प्रभूत चैतन्य की ओर ले जाने वाला है। उसी को जड़ता के बोझ से आक्रान्त तथा ऊबी हुई सृष्टि का यह आह्वान है—"असतो मा सद् गमय।"

मनु का मार्ग

वैदिक मनुष्य ने इसी विश्वेदेवा से यह प्रार्थना की—"मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नेष्ट परावतः" ऋक् ८, ३०। हमें हमारे पिता मनु के मार्ग से दूर अलग मत ले जाना। वह मनु का मार्ग क्या है? मनु की मानवता से क्या तात्पर्य है? ये प्रश्न गम्भीर और विचारणीय हैं अवश्य और आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों ने मनु के उस मार्ग के विविध अर्थ प्रस्तुत करने के बड़े प्रयत्न भी किये हैं। इन प्रयत्नकारों में 'प्रसाद' सबसे अग्रणी है। उनकी 'कामायनी' में मनु के मार्ग का शोध करने का विकल उद्योग है। डॉ० रामकुमार वर्मा का 'अन्धकार' एकांकी भी उसी की व्याख्या करने का एक लघु प्रयत्न है। फिर पं० उदयशंकर भट्ट के 'तीन नाटकों' में से प्रथम दो भी इसी के लिए हैं। मनु की ओर यह दृष्टिपात अकारण नहीं है। युद्ध और उसकी विकट तथा जटिल परिस्थितियों ने, उसके उपरान्त के अवसादमय भाव-विप्लव और द्वापरता ने, वैज्ञानिक भौतिक तत्त्वों के अमानुषिक उपयोग ने, भावी मानवता को जिस संकटापन्न अवस्था में पटक दिया है उसी की कल्पना से आज का मानव-मानस और साहित्यकार छटपटा रहा है। वह एक नहीं अनेक उद्योग करके इन समस्त विषमताओं के आच्छादन में क्षुभित मानव के रूप को उभारकर ऊपर लाना चाहता है। वह 'पथः पित्र्यान्मानवात' का शोध करना चाहता है और कहना चाहता हैं कि "वह यह है!" कहीं वह यथार्थतः ही उस मार्ग पर उँगली रख सके तो कितना कल्याण हो। पर दीखता यह है कि इसके लिए आज के युग में जितने संकट और खतरे हैं उतने कभी नहीं थे। हम उन खतरों की यथार्थ परीक्षा करने के अपने को अधिकारी तो नहीं समझते पर उनकी ओर संकेत करने का प्रत्येक का कर्तव्य समझ कर ही सूक्ष्म में अपने विचारों के साथ उन्हें रखना चाहते हैं।

सत् और असत्

साहित्यकार का सबसे पहला संकट उसकी क्षुभित प्रतिभा है। विश्व की विविध प्रगतियाँ उस पर आक्रमण करती हैं। उसकी दृष्टि को अवरुद्ध कर देती हैं। वह विचलित हो उठता है और उस मार्ग को भूल जाता है जो उसे प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा था। यह भ्रम की दशा साहित्य के लिए अत्यन्त घातक है। उसे यह बताना है कि यह सत्य है। यदि इस प्रकार निर्दिष्ट सत्य ही सत्य हो तो साहित्य और मानव-निर्माण की भूमि ठोस होती है। यदि वह मिथ्या को सत्य बता दे, असत् को सत् बता दे तो भ्रम का शिकार हो जायगा। उसका समस्त साहित्य मानव को एक विडम्बना में डाल देगा। सत्य और असत्य को हम वैदिक उपनिषदों की भाँति एक ही यथार्थ के अथवा परम तत्त्व के दो पहलू मानें तो सत् और असत् वैज्ञानिक भौतिकवाद के विरोधी तत्त्वों (कंट्रेरीज़) में माने जा सकते हैं। जो प्रस्तुत असत् को अपने प्रबल ठोस वेग द्वारा उखाड़ कर फेंक दे और अपने को प्रतिष्ठित कर ले वह सत् है। यह सत् अविद्या अथवा कर्म से मिलकर जब गतिमान होता है तब अपने अन्दर से अपने विरोधी सत् को पुनः जन्म देता है। स्वतः अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए नये सत् से अलग हो जाता है और संघर्ष में प्रवृत्त हो जाता है। साहित्यकार 'सत्' के इस विकार और विकास को हृदयंगम कर लेता है। वह सत् को सत् और असत् को असत् स्पष्टतः चित्रित कर देता है, किन्तु यह निश्चित है कि उसे सत् और असत् को पहचानने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। सत् और असत् की शक्तियाँ विधि और निषेध की शक्तियाँ नहीं हैं, दोनों वैध हैं। और एक सत् का ही असत् होता है। अनभ्यस्त अथवा प्रमाद-ग्रस्त मस्तिष्क को, हो सकता है कि अन्यथा-सिद्ध तत् ही सत् विदित होने लगे। यह एक बड़ी गम्भीर स्थिति है। आलोचना-शास्त्र साहित्यकार को ऐसे संकटों से बचाने का प्रयत्न करता है।

यौन-सम्बन्धी समस्या

जीवन-सिद्धि के इस मध्य विन्दु के साथ और भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनके सम्बन्ध में हम अपने कलाकारों और साहित्यकारों से असन्दिग्ध

मत अथवा हल चाहते हैं। स्त्री और पुरुषों का यौन और सामाजिक सम्बन्ध एक ऐसी ही समस्या है। इस समस्या के आज अनेक पहलू उपस्थित हो गये हैं। कुछ पहलू इसके अभौतिक और आध्यात्मिक पक्ष के हैं, और कुछ प्रेम और काम-विषयक। आज का साहित्यकार निस्सन्देह अध्यात्म की ओर नहीं जाता, फिर भी प्रेम की अलौकिक कल्पना से उसका छुटकारा नहीं हुआ है। वह शैली में पूर्ण पदार्थवादी और कार्य-कारण की परम्परा प्रस्तुत करते हुए मूल में कुछ ऐसा मानता है कि प्रेम का आकर्षण दो शरीरों का आकर्षण नहीं, दो आत्माओं का आकर्षण है; और यह जैसे अनन्त बन्धन है। प्रेम दूसरे रूप में एक शारीरिक आवश्यकता को प्रकट करने का साधन भर है। अध्यात्म पक्ष में प्रेम वह चीत्कार है जो परम तत्त्व से वियुक्त होने के कारण जीव के हृदय में उठता है। भौतिक पक्ष में केवल यौन-उद्रेक ही प्रेम है। उसका दमन हानिकारक है। यौन-पक्ष में समस्या है कि स्त्री-पुरुषों को अपनी यौन आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए मुक्त कर देना चाहिये, अथवा विवाह या उसी जैसा कोई बन्धन रखना चाहिये। यौन सम्बन्धों का समाज-सम्बन्धों से क्या व्यवहार होना चाहिये ? आधुनिक साहित्यकार ने इस स्थिति का अध्ययन करने का प्रयत्न तो किया है पर उसमें वह निर्भ्रम नहीं हो पाया। इस प्रश्न का सम्बन्ध जाति और राष्ट्र की मानव-शक्ति से भी है, और बहुत घनिष्ठ है। इसकी ओर हमारे शास्त्र की दृष्टि तो अभी गयी नहीं है। पर आज शास्त्रकार से अधिक साहित्यकार इस दिशा में मार्ग-प्रवेता हो सकता है। अतः हमारे साहित्यकार को इस सम्बन्ध में गम्भीर विचार कर भूत-वर्तमान को हस्तामलकवत् देखकर निर्भ्रान्त साहित्य देने की चेष्टा करनी है। हां, उसे स्वयं अपनी प्रतिभा का प्रकाश देखना चाहिये। विश्व के घटना-चक्र, देश की वर्तमान परिस्थितियों के संकेत से ऊर्जस्वित ज्ञान का प्रकाश स्वयं उसके मानस में जगमगाना चाहिये। इस दिशा में भी आलोचना के नये शास्त्र को मार्ग-प्रदर्शन करना है।

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व क्या है ? बिना इसे जाने साहित्य और व्यक्तित्व का सम्बन्ध और स्वरूप नहीं जाना जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तित्व शब्द

'शुद्ध भारतीय शब्द-विकास से हमें प्राप्त नहीं हुआ।' यह अँग्रेजी के 'पर्सनेलिटी' (Personality) शब्द का हिन्दी पर्याय माना गया है। वस्तुतः व्यक्तित्व के अर्थ के लिए हमें संस्कृत कोष नहीं देखना होगा। हमें देखना होगा अँग्रेजी कोष और उसमें पर्सनेलिटी के अर्थ।

अँग्रेजी के विचारकों ने इस व्यक्तित्व पर पर्याप्त विचार किया है। उनमें से एक विद्वान् चरित्र (कैरैक्टर) को व्यक्तित्व (पर्सनेलिटी) का एक अंश मानते हुए पर्सनेलिटी अथवा व्यक्तित्व को समस्त मानवीय गुणों का संग्रह मानता है।

व्यक्ति व्यक्ति भिन्न हैं। वे इस प्रकार पशुत्व के स्तर पर भिन्न नहीं, मानव के स्तर पर भिन्न होते हैं। भारतीय शास्त्रों ने स्पष्ट लिखा है कि "आहार निद्रा भय मैथुन" में मनुष्य और पशुओं में साम्य है। पशु और पशु में इन्हीं के आधार पर एक अत्यन्त जड़ साम्य होता है। यों पशुओं में भी स्वभाव भेद होता है। घोड़ों में कोई हठी, कोई सरल, कोई अड़ियल, कोई चपल होते हैं। उनमें बुद्धि-भेद भी मिलता है। कोई संकेत समझ लेते हैं। कोई बिना डण्डे के अथवा बल-प्रयोग के समझ ही नहीं सकते। उनकी चाल में भी भिन्नता हो सकती है, पर यथार्थ में पशुओं के पास व्यक्तित्व नहीं होता, इस व्यक्तित्व के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न जाति का सिद्ध होता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी चाल-ढाल, उसकी बोल-चाल, उसके रहन-सहन सभी में मिल सकता है। मनुष्य का समस्त स्वरूप ही वस्तुतः उसका व्यक्तित्व है। उसके गुण-अवगुण, उसका चरित्र, उसके आचार-व्यवहार, उसका स्वभाव, उसका आन्तरिक मन, उसकी संस्कृति अथवा सांस्कृतिक उपार्जन—इन सब की एक ऐसी रसायन प्रस्तुत होती है कि वह उस व्यक्ति के स्वरूप को एक पृथक् महत्त्व प्रदान कर सकती है; यों तो प्रत्येक अभिव्यक्ति में ही वह व्यक्तित्व विद्यमान रहता है, पर साहित्य में तो व्यक्तित्व की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति होती है।

साहित्य-निर्माण में प्रवृत्त होते ही साहित्यकार की सामाजिक स्थिति ही नहीं, एक प्रकार से समस्त पार्थिव सत्ता ही उसके समक्ष विलीन हो जाती है और तब उसका वह उन्मुक्त स्वरूप, जो यथार्थ में उसका अपना है, शुद्ध,

बाहरी प्रभाव से अक्षुब्ध, वह साहित्य में विस्तृत हो उठता है। व्यक्तित्व का मूल शील है, वह साहित्य में ही अपने को प्राप्त करता है। इसीलिए कला जो अपूर्ण है, उसी की पूर्ति (साकेत) मात्र नहीं, वह व्यक्ति अथवा मानव की आत्मोपलब्धि (सैल्फ रिअलाइजेशन) भी है।

व्यक्ति के निर्माण की छः सीमाएँ निर्धारित होती हैं—

१. लिंग (स्त्रीत्व और पुरुषत्व का भाव), २. पीड़न (आत्म-पीड़न तथा पर-पीड़न का भाव), ३. आवेग, ४. नैतिकता, ५. बौद्धिकता तथा ६. अहंता।

इन छः सीमा-तत्त्वों के पारस्परिक अल्पाधिक मात्रा में संयोजन से व्यक्तियों के अपने स्वभावों अथवा व्यक्तित्वों का निर्माण होता है।

इसी के साथ हमें फ्राइड, जुङ्ग तथा एडलर के व्यक्ति-निर्माण के तत्त्वों को भी समझ लेना चाहिये।

फ्रायड मनोविश्लेषण-विज्ञान का जन्मदाता है। इसने व्यक्ति के समस्त निर्माण के मूल में काम-भाव को ही प्रधान माना है। इस मूल काम को, जो व्यक्ति-विकास में जन्म से मरण तक किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है और समस्त अभिव्यक्तियों के मूल में प्रेरणा के स्वरूप में रहता है 'लिबिडो' या मूल वासना, नाम दिया गया है।

जुङ्ग ने काम-भाव के अतिरिक्त एक और विशेष भाव की स्थिति मनुष्य में पायी। मनुष्य या तो अन्तः-निष्ठ (इण्ट्रोवर्ट) होता है अथवा बहिर्निष्ठ (एक्सट्रावर्ट)।

एडलर ने जुङ्ग से आगे भाव-ग्रन्थियों (कम्प्लैक्सेज) का अनुसन्धान किया, जिससे व्यक्ति में उच्चता-भाव-ग्रन्थि (सुपीरियारिटी कम्पलैक्स) अथवा हीनता-भाव-ग्रन्थि (इन्फीरियारटी कम्पलैक्स) का निर्माण होता है। इन ग्रन्थियों के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का रूप ग्रहण कर लेता है। फ्राइड, जुङ्ग तथा एडलर तीनों ही अवचेतन मानस में विश्वास रखते हैं, अतः मनोविश्लेषणवादी कहलाते हैं।

इन्हीं के साथ व्यक्ति के निर्माण में प्रकृति-प्रदत्त 'क्षति-पूर्ति' के सिद्धान्त की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रकृति अपने निर्माण में यदि किसी दिशा अथवा क्षेत्र में कोई कमी पाती है तो दूसरी ओर से उसकी पूर्ति कर लेती है।

इस प्रकार अनेकों प्रकार के व्यक्तियों का निर्माण होता है। जब इन व्यक्तियों का यह शील कला-साहित्य के निर्माण में प्रकट होना चाहता है तो प्रेरणा, व्यक्ति और अभिव्यक्ति तीनों का सम्मिलित रासायनिक स्वरूप व्यक्तित्व बन जाता है। तब यह अनिवार्य है कि व्यक्ति की प्रत्येक अभिव्यक्ति में यह व्यक्तित्व अवश्य झलके।

यह व्यक्तित्व साहित्य में शैली का ही रूप ग्रहण नहीं करता, यही वस्तु और विषय के प्रतिपादन के लिए आवश्यक तर्क, प्रमाण तथा उदाहरण की भी अपने अनुकूल व्यवस्था करता है। यही वस्तुतः उसे स्वरूप और कला प्रदान करता है। मनुष्य की प्रतिभा का व्यक्तित्व से इसी स्थल पर अभेद हो जाता है। फलतः साहित्य का अध्ययन व्यक्तित्व का ही अध्ययन होता है।

साहित्य के रूप

साहित्य का जीवन और जीवन की अभिव्यक्ति से जैसा सम्बन्ध है वह देखा जा चुका है।

जीवन की तीन भूमिकाएँ होती हैं—

१. व्यक्तिगत, २. समाजगत, तथा ३. प्रकृतिगत।

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट है कि यदि दार्शनिक गहनता में न उतरा जाय तो 'प्रकृति' पुरुष के लिए रंगमंच है। पुरुष अभिनेता है। नहीं, प्रकृति मात्र रंगमंच ही नहीं, वह पुरुष के कर्तव्य के लिए परिस्थितियों की भूमिका प्रस्तुत करती है। प्रकृत्ति उसके लिए सामग्री प्रदान करती है, प्रकृति उसके मनोवेगों का कारण बनती है, प्रकृति उसको प्रेरणा भी दे सकती है और आदर्श भी। प्रकृति ने पुरुष को विजय करने के लिए सदा आमन्त्रित किया है और मनुष्य प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करता हुआ उस पर विजय पाने के लिए सचेष्ट रहा हैं।

साहित्य-सृजन की दृष्टि से पुरुष व्यक्ति है प्रकृति तो प्रकृति है ही। प्रकृति से जितने प्रकार के भी सम्बन्ध पुरुष से हो सकते हैं, उनमें से साहित्य रागात्मक सम्बन्धों को ही मान्यता देता है। इन रागात्मक सम्बन्धों के निम्न रूप हो सकते हैं—१. पुरुष कवि बन कर प्रकृति की श्री पर मुग्ध हो, इस सम्बन्ध के

कारण सबसे आरम्भ में गेय काव्य का जन्म होता है। २. पुरुष नायक बनकर अग्रसर होता है, वह अपने जीवन की वल्लरी का प्रकृति के सहारे विस्तार करता है। प्रकृति उसके जीवन की पृष्ठभूमि का रूप ग्रहण कर लेती है। ऐसी अभिव्यक्तियाँ प्रायः कथात्मक हो जाती हैं, बहुधा आरम्भिक अवस्था में मनुष्य अपना पुरुषत्व अथवा नायकत्व भी प्रकृति को प्रदान कर देता है। वह प्रकृति के तत्त्वों की ही कहानी की कल्पना करता है, जिससे माइथॉलॉजी अथवा पौराणिक गाथा का जन्म होता है।

अतः गीत और कहानी नाम के ये दो प्रकार मानव की वाणी के विलास की अभिव्यक्ति के मूल रूप हैं। गीत और कहानी के विकास के अन्तर में मनुष्य का वह विकास निहित है जिसमें वह सामाजिक संस्कृति का निर्माण और संवर्द्धन करता है। मनुष्य धीरे-धीरे जब जितना ही मानवीय सम्बन्धों में विशेष निबद्ध होता जाता है और समाज का स्वरूप खड़ा होता जाता है और साथ ही सभ्यता और संस्कृति के सूत्र भी समृद्ध होते जाते हैं, तब वह धीरे-धीरे प्रायः उसी अनुपात में प्रकृति से विलग होता जाता है और उसके वाणी-विलास में व्यक्ति-पुरुष के साथ समाज-तत्त्व भी समावेशित होने लगता है। तब उसके गीत मुग्ध सौन्दर्य के वर्णनों की पगडंडी छोड़कर मानवीय प्रेम तथा करुणा के मार्ग पर चलकर 'गीतिकाव्य' बनते हैं। और शनैः-शनैः मानवीय भाव-पक्ष उनमें इतना बोझिल हो उठता है कि गीत की तरल लचीली तानें उसे सँभाल नहीं सकतीं; उसका आरोह-अवरोह स्तब्ध होकर स्वच्छन्द गति को त्यागकर छन्द के अनुशासन में बँधने लगता है और काव्य कहा जाता है।

साहित्य का यह इतना सामर्थ्यवान रूप रहा है कि मानवीय भावों को ही व्यक्त करने का माध्यम नहीं बना, कथा तथा प्रबन्ध का भी माध्यम बन गया। संस्कृत में फलतः यह काव्य ही साहित्य का पर्यायवाची हो गया। संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में नहीं होता था जिसमें आज हम हिन्दी में कर रहे हैं, अर्थात् अँग्रेजी 'लिटरेचर' शब्द के पर्यायवाची के रूप में। साहित्य शब्द मूलतः साहित्य-शास्त्र के अर्थ में प्रयोग में आता था और काव्य के अन्तर्गत वह समस्त वाङ्मय आता था जो ललित हो। साहित्य-शास्त्र ने एक-मात्र काव्य पर ही विचार किया है। इस काव्य के भेदोपभेदों में आधुनिक साहित्य के

प्रायः समस्त रूप समाये हुए हैं। नाटक भी इसी काव्य का एक भेद है, क्योंकि नाटक तथा अन्य काव्यों का मुख्याधार भाव ही है और भाव में वाच्य ही नहीं नाट्य भी सम्मिलित है।[1]

वस्तुतः भारतीय साहित्य-शास्त्रों में आचार्यों ने काव्य की परिभाषाएँ बहुत विस्तृत आधार पर दीं। उन्होंने शब्दार्थ[2], अलंकार[3], रीति[4], वक्रोक्ति[5], ध्वनि, रस[6], रमणीयता[7] आदि तत्त्वों का अन्वेषण करके क्रमशः काव्य के निर्मायक विविध तत्त्वों का भी निर्देश कर दिया है।

काव्य के परिभाषाकारों ने काव्य को बहुत विशद अर्थ में ग्रहण किया। उन्होंने काव्य के मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार किया, केवल शब्द-छन्द स्वरूप का नहीं। यही कारण है कि यहाँ काव्य के दो भेद किये और उनके फिर विशद अन्य भेद—

गीत और वार्ता (कहानी) के दो आदिम मूल साहित्यिक स्वरूप आज कितने रूपों में विभाजित हो गये हैं। इनका विस्तृत ज्ञान और इनके तत्त्वों का अध्ययन आगे के अध्यायों में होगा।

---

१. देखिये भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में ये श्लोक—

वागङ्गमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतो भावं भावयन् भाव उच्यते॥

"वाक् (वाणी), अंग, मुख राग तथा सत्त्व भावों तथा अभिनय से कवि के अन्तर्गत भावों को जो उद्‌भावित कर सके वही 'भाव' है।"

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह १-१६

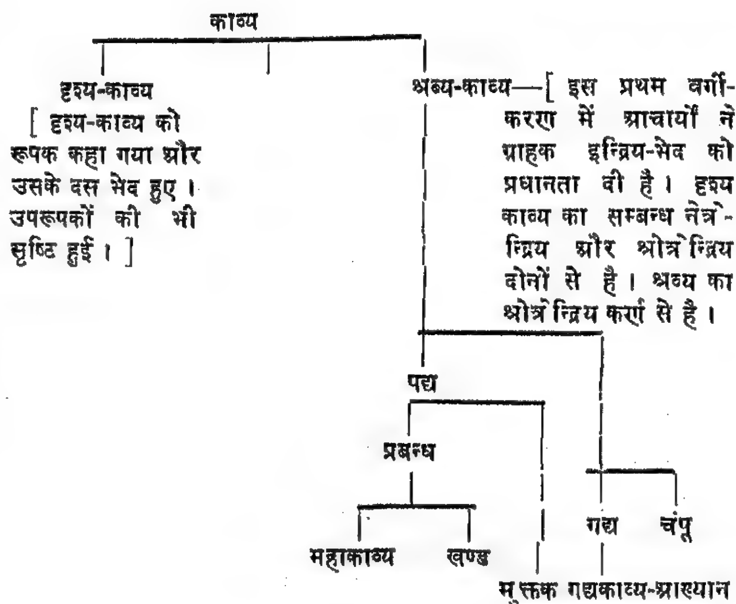
३. तैः शरीरञ्च काव्यानामालंकाराश्च दर्शितः।
शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली॥—दण्डी, काव्यादर्शक १।१०॥

४. रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन, काव्यालंकार-सूत्र २-६।

५. शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनी बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि—कुन्तल, वक्रोक्ति जीवित—१-७।

६. वाक्यं रसात्मकं काव्यं—विश्वनाथ, साहित्य दर्पण।

७. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—पं० जगन्नाथ, रस गंगाधर।


काव्य
दृश्य-काव्य
[दृश्य-काव्य को रूपक कहा गया और उसके दस भेद हुए। उपरूपकों की भी सृष्टि हुई।]
श्रव्य-काव्य—[इस प्रथम वर्गीकरण में आचार्यों ने ग्राहक इन्द्रिय-भेद को प्रधानता दी है। दृश्य काव्य का सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय दोनों से है। श्रव्य का श्रोत्रेन्द्रिय कर्ण से है।
पद्य
प्रबन्ध
महाकाव्य
खण्ड
मुक्तक
गद्य
चंपू
गद्यकाव्य-आख्यान

द्वितीय अध्याय

काव्य की परिभाषा और तत्त्व

मनुष्य की अभिव्यक्ति उसकी निजी और सामाजिक आवश्यकताओं तथा व्यवस्थाओं के कारण हो उठती है। ठीक उसी प्रकार की कुछ प्राकृतिक रसायन के कारण जिस प्रकार कि एक बीज, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश की रसायन से अंकुरित हो उठता है, पाल्लवित, पुष्पित और फलित हो उठता है। प्राकृतिक अभिव्यक्ति ही जब मनुष्य को सुषमामय लगती है तो उसे अपनी अभिव्यक्ति तो और भी अधिक प्रिय लगेगी इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। 'साहित्य' ऐसी ही अभिव्यक्ति है, मानव की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति।

अभिव्यक्ति से मानव मुग्ध ही नहीं होता उस पर वह विचार भी करने लगता है। वह उसे समझने का प्रयत्न करता है, उसकी परिभाषा करना चाहता है।

इसी प्रवृत्ति से मनुष्य सदा से काव्य के रहस्य को समझने की चेष्टा करता आया है। अनेकों परिभाषाएँ बनी हैं और प्रत्येक युग ने पूर्ववर्ती परिभाषाओं को अपर्याप्त समझकर नयी परिभाषाओं की कल्पना की है। किन्तु, काव्य

आज भी जिज्ञासा का विषय है, और वह सदा सर्वदा जिज्ञासा का ही विषय रहेगा। क्योंकि, काव्य कला है और अनुभूति की वस्तु है।

भामह ने पहले 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' लिखा। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को 'सहित (स+हित)" ही मानकर काव्य की परिभाषा से सन्तोष कर लिया गया—किन्तु शब्द और अर्थ काव्य के शरीर-अवयव-मात्र थे। इस तथ्य को आचार्य दंडी ने समझा। दंडी ने शब्द और अर्थ से अधिक महत्त्व शब्दों और अर्थों को सजाने वाली विधा—"अलंकार" को दिया—"तैह शरीरं च काव्या-नाम् अलंकाराश्च दर्शित :' में शब्द और अर्थ से ऊपर अलंकार की प्रतिष्ठा की गयी। कविता का इतना परिचय ही बहुत समय तक पर्याप्त समझा गया, किन्तु काव्य-शास्त्रियों के इस उद्योग में मूर्त से अमूर्त की ओर पहुँचने की गति अवश्य थी। पहले काव्य के शरीर को, ऊपरी रूप को समझा-समझाया गया, और फिर धीरे-धीरे भीतर की ओर अग्रसर हुआ गया।

अलंकार की बहुत विस्तृत समीक्षा हुई। उसमें शैली और गुण सब-कुछ सम्मिलित कर लिये गये। अलंकारों का महत्त्व इतना व्यापक हुआ कि काव्य को ही अलंकार, अलङ्कार को ही काव्य कुछ शास्त्री मानने लगे—और अलंकार के द्वारा ही काव्य को समझने का उपक्रम हुआ—"काव्यम् अलंकारः।" किन्तु शीघ्र ही इस भ्रान्ति का निराकरण हुआ—और ऐसा विदित हुआ कि काव्य में कुछ विशेषता और है। काव्य के शरीर की कल्पना हो चुकी थी। उसके चमत्कार और गुण भी अलंकारों के अन्तर्गत आ गये थे। काव्य की आत्मा को खोजने की चेष्टा हुई। वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा स्वीकार किया—'रीतिरात्मा काव्यस्य।'

आत्मा के प्रश्न ने काव्य में बड़ा विवाद उपस्थित कर दिया। उद्भट ने 'रस' को काव्य की आत्मा बतलाया। भरत मुनि ने अपने 'रूपक-विवेचन' में रसों की ओर संकेत किया था, उद्भट ने उसे मान्यता प्रदान कर दी।

शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण, रीति और रस-इतने तत्त्व काव्य के उपकरण माने गये। 'वाग्भट्ट' ने इन समस्त उपकरणों को एक सूत्र में पिरो दिया। किन्तु, समस्या हल नहीं हुई, काव्य के शरीर और रस का सम्बन्ध सिद्ध करने की समस्या थी। शब्द और अर्थ में अलंकार, गुण, रीति ये सब तो व्यवस्थित हो

सकते थे—पर रस को व्यवस्था कहाँ दी जाय ?—इस समस्या पर गम्भीर विचार हुआ, और समझा गया कि अर्थ के अतिरिक्त जो भावानुप्राणन होता है—उससे राग और रस उद्‌घाटित होता है। इस आधार पर शब्द और अर्थ के उपरान्त ध्वनि का आश्रय लिया गया—अर्थ-शक्तियों का विश्लेषण हुआ—और ध्वनि की सिद्धि हुई। यह ध्वनि सिद्ध की गयी थी रस तक पहुँचने के लिए, किन्तु ध्वनिकार ने उसे ही प्रधानता दे दी और रस उस ध्वनि का एक अंग-मात्र रह गया। इस प्रकार काव्य का परिचय जितना अधिक होता गया, उतनी ही गहरी, व्यापक और सतर्क परिभाषाएँ आचार्य बनाते गये। विश्वनाथ और जगन्नाथ ने "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्," तथा "रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्" ने अब तक के विकास की सभी शृङ्खलाओं को एकसूत्र में संबद्ध कर दिया। उन्होंने काव्य के शरीर को और उसकी प्राणदा आत्मा—रस को—दोनों को महत्त्व दिया। यहाँ तक काव्य की परिभाषा हुई। यह परिभाषा भारतीय शास्त्रकारों की आज तक की देन है। इसके उपरान्त आचार्य शुक्ल ने काव्य के रसात्मक और रागात्मक तत्त्व को प्रधान मानते हुए लिखा है कि "काव्य शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराता है।" किन्तु, यह परिभाषा नयी नहीं है। उनमें काव्य के किसी नवीन तत्त्व की ओर संकेत नहीं हुआ है।

भारतीय आचार्यों ने जिस प्रकार काव्य के रूप को समझाने के लिए उसके अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण किया, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने भी उसके भिन्न-भिन्न अंगों को अपने-अपने साँचे के अनुसार महत्त्व देकर काव्य के व्यष्टि रूप से समष्टि को देखा।

कविता की अनेक परिभाषाओं में और परिभाषा की प्रवृत्तियों में पाणिनि की क्षमता और विभूति को आबद्ध करने की चेष्टा की गयी है, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि यह सब प्रयत्न बाह्य हैं और कविता के प्रवाह को बाँधने में असमर्थ हैं। नदी को बाँहों में नहीं बाँधा जा सकता। जो कविता भामह के समय में थी, वही उद्‌भट और विश्वनाथ के समय भी रही। जो भारतवर्ष में थी वही उसी रूप में पाश्चात्य देशों में शेक्सपियर और वर्ड्सवर्थ के समय में

भी रही। वह वहाँ और यहाँ दोनों स्थानों पर वैसी ही है। उसको समझाने का प्रयत्न तब भी किया गया था और आज भी किया जा रहा है। उसकी परिभाषा इससे अधिक नहीं हो सकती कि कविता कविता है और वह अनुभूति की वस्तु है।

काव्य के तत्त्व

ऊपर जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनमें प्रसंगवशात् उन तत्त्वों का उल्लेख हो गया है जिनसे काव्य का निर्माण होता है। अथवा किसी काव्य का विश्लेषण करते समय जो हमारे हाथ लगते हैं।

किसी भी रचना पर जैसे ही दृष्टि जाती है वैसे ही पहली बात यह विदित होती है कि वह किसी भाषा में है।

ऊपर दी हुई किसी भी परिभाषा में 'भाषा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर भाषा के प्रधान अवयव वाक्य के द्वारा भाषा की ओर संकेत किया है। किन्तु अन्य आचार्यों ने भी जान-बूझकर ही न तो 'वाक्य' कहा, न 'भाषा'। उन्होंने 'शब्द' और 'अर्थ' ये दो सँज्ञाएँ दी हैं। भामह ने सबसे पहली परिभाषा में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहा। 'शब्द' भाषा का सबसे लघु और सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है। 'शब्द' के द्वारा ही अर्थ अथवा अभिप्राय की वाणी-रूप में अभिव्यक्ति होती है। फलतः 'शब्द' ही अभिव्यक्ति का प्रथम महत्त्वपूर्ण अंग है। यह काव्य 'शरीर' माना जा सकता है। 'अर्थ' दूसरा तत्त्व है। 'शब्द' और 'अर्थ' को लेकर शास्त्रियों और कवियों में सम्प्रदाय ही हो गये हैं। इनमें से एक 'शब्द' को प्रधानता देता है, दूसरा दोनों शब्द तथा अर्थ को। एक तीसरा सम्प्रदाय है जो इसको समान महत्त्व देता है। यह न शब्द है न अर्थ। इनसे, दोनों से, अतिरिक्त है वह तत्व।

शब्द

'शब्दवादी काव्य में शब्द-सौन्दर्य की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं।

'शब्द' के इस सौन्दर्य का स्वरूप कैसे उपलब्ध होता है ? 'शब्द' पर ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि इसके निर्मायक तत्त्व हैं, १ अक्षर, २ मात्रा, ३ संयोग, ४ उच्चारण-स्थान, ५ लय, ६ चित्र, ७ शक्ति तथा ८ गुण।

प्रत्येक भाषा के शब्द किन्हीं अक्षरों से बनते हैं। हिन्दी के अक्षरों की वर्णमाला से सभी परिचित हैं। ये अक्षर स्वभावतः तीन प्रकार के हैं: १ स्वर, २ व्यंजन, ३ अर्द्धस्वर,

उच्चारण

स्वर और व्यंजनों का वर्गीकरण और विभाजन देवनागरी में उनके उच्चारण-स्थान, प्राण और घोष के आधार पर तथा उच्चारण-क्रिया के आधार पर होता है ! उदाहरणार्थ क वर्ग को लीजिये। उच्चारण-स्थान की दृष्टि से यह 'कंठ्य' है, क्योंकि कवर्ग के प्रत्येक वर्ग का उच्चारण 'कंठ' से होता है।

इसमें क ख अघोष हैं, ग घ सघोष हैं, क ग अल्पप्राण हैं, ख घ महाप्राण हैं, ङ सानुनासिक है।

यह विषय ध्वनि-विज्ञान का है। किन्तु 'शब्द' को प्रधानता देने वाले शास्त्री जब शब्दों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न करेंगे तो भाषा-शास्त्र का यह गम्भीर अध्ययन उस सौन्दर्य को हृदयंगम कराने में सहायक हो सकता है। उदाहरणार्थ—शब्द-सौन्दर्य पर ध्यान देने वालों ने शब्दालंकारों की उद्भावना की, जिनमें अनुप्रास प्रमुख है। अनुप्रासों में एक 'श्रुत्यनुप्रास' भी माना गया। श्रुत्यनुप्रास के लिए यह आवश्यक है कि रचना में एक स्थान से उच्चारित होने वाले अक्षरों की आवृत्ति हो। यथा—

"तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हार निठुराई।

इस दन्त्य-प्रधान अक्षरावली के संयोजन के द्वारा तुलसीदास जी ने केवल अपनी गिड़गिड़ाहट ही नहीं प्रकट की शब्दों का एक सौन्दर्य भी प्रकट कर दिया है; अतः यह अनुप्रास तो निर्भर ही भाषा-विज्ञान के द्वारा ज्ञात उच्चारण स्थान पर करता है।

यही नहीं अघोष, सघोष, अल्पप्राण और महाप्राण की उपस्थिति अक्षरों में आन्तरिक मृदुता, कठोरता उत्पन्न कर देती है।

कण्ठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य, सोष्ठ ध्वनियों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय तो विदित होगा कि वे कोमल, मधुर, कटु, मृदु, पुष्ट, गुणयुक्त

होती हैं। भारतीय शास्त्रों ने काव्य के तत्वों में 'गुण' और 'वृत्ति' का अन्वेषण किया, और इन दोनों के मूल में शब्द-शास्त्र का यही गहन अध्ययन विद्यमान मिलता है। आज के आलोचना-शास्त्री को भी अक्षरों के इस विज्ञान के मर्म को समझना चाहिये।

मात्राएँ

'अक्षर' में साधारणतः दो और विशेषतः तीन मात्राएँ मिलती हैं। दो मात्राएँ—'लघु' तथा 'गुरु' कही जाती हैं। लघु एक मात्रा मानी जाती है, इसका पिंगल शास्त्रीय चिह्न '।' है। लघु मात्राएँ हैं, अ, इ, उ, ऋ—केवल। शेष सब दीर्घ हैं। 'गुरु' अक्षर में दो मात्राएँ मानी जाती हैं, और इसका चिह्न 'ऽ' है। संस्कृत में, और कभी-कभी हिन्दी में भी 'प्लुत' स्वर भी मिल जाता है, जो 'तीन मात्राओं' का अवकाश लेता है।

मात्रा संयुक्त अक्षरों से कवि दो प्रकार का सौन्दर्य उत्पन्न करता है, एक तो वह इनसे कविता के चरणों को तौलता है, और इन्हीं के आधार पर छन्द अथवा 'वृत्त' का निर्माण करता है। वर्तमान युग से पूर्व यदि 'कविता' की चर्चा की जाती थी तो अनिवार्यतः उससे छन्द अथवा वृत्तयुक्त शब्दावली का ही ज्ञान होता था। अक्षरों को किसी विधि से संतुलित करके रचना करने का भाव काव्य के साथ इतना गहरा है कि विश्व-भर के साहित्य में कविताएँ तौल कर एक विशेष सौंदर्य-युक्त शब्दावली में ही की गयी हैं। इस मात्रा के सौन्दर्यान्वित प्रयोग से युक्त रचना की शैली साधारणतः 'पद्य' कहलाती हैं, और वह उस बोल-चाल की शैली से भिन्न होती है जो 'गद्य' कहलाती है।

छन्द

लघु-दीर्घ मात्राओं और लघु-दीर्घ मात्रा युक्त तीन अक्षरों के वर्ग वाले आठ 'गणों' के आधार पर जो छन्द और वृत्तों की अनन्त सृष्टि हुई है वह केवल पद्य-सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए ही नहीं वरन् उस सौन्दर्य को भावों के अनुकूल बनाने के प्रयत्न में भी हुई है। कोई छन्द या वृत्त किसी भाव और रस को अधिक सफलतापूर्वक व्यक्त कर सकता है, कोई किसी को। 'वीरता' के भाव को व्यक्त करने के लिए जिस छन्द की उद्भावना हुई वह 'छन्द' ही 'वीर छन्द' कहलाता है, और क्योंकि इसी में हिन्दी के 'आल्हा'-जैसे 'वीर

काव्य' की रचना हुई अतः इसे 'आल्हा' छन्द भी कहते हैं। अतः मात्राओं का यह अध्ययन काव्य की गहराई से उनका सम्बन्ध सिद्ध करता है।

दूसरे इन मात्राओं के सहारे वह अलंकार-सौंदर्य भी उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। यदि कोई चरण लघु मात्राओं वाला ही हो तो उसमें एक चमत्कार अवश्य आ जायगा। मात्रा और अक्षरों के संयोग के अतिरिक्त स्वर-स्वर अथवा व्यंजन-व्यंजन का भी संयोग होकर शब्द बनते हैं, व्यंजन और स्वर (क+ओ=को) जब मिलते हैं तब तो मात्रा उत्पन्न होती है। किन्तु इस संयोग की ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि उसमें स्वर+व्यंजन (इन) हो, अथवा व्यंजन+व्यंजन हो। ऐसे जब दो व्यंजन मिलते हैं, और उनमें से पहला होता है स्वररहित तो दोनों के संयोग से संयुक्त वर्ण बनते हैं—स्+व=स्व। मिलित अथवा संयुक्त वर्णों के द्वारा शब्द की गरिष्ठता और शक्ति बढ़ जाती है, वह भारी हो जाता है। शब्द-सौन्दर्य की दृष्टि से ऐसे मिलित अथवा संयुक्त वर्णों का विशेषतः ओजोत्पादन के लिए उपयोग होता है।

लय

इसके साथ ही शब्दों में लय का समावेश भी कवि कर देता है। इससे शब्दों में संगीतात्मकता आ जाती है। हिन्दी का समस्त पद-साहित्य तो संगीत है ही, तुलसी के मानस की दोहा-चौपाइयों में भी उसका अभाव नहीं है, नये युग में प्राचीन परिपाटी के त्याग के उपरान्त गीत-शैली का ही प्राधान्य हुआ। बिना लय के कविता का मिलना आज कठिन है।

रीति

संस्कृत-साहित्याचार्यों ने 'रीति' नाम का सम्प्रदाय स्वीकार किया था। इसके प्रतिपादक 'वामन' हैं—

"रीतिरात्मा काव्यस्य।"

"विशिष्टा पद रचना रीति :।"

"विशेषो गुणात्मा।" (काव्य० सू० १. २. ६-८.)

"रीति काव्य की आत्मा है, विशेष प्रकार की पद-रचना को 'रीति' कहा जायगा, यह विशेषता गुणों के कारण होती है।"

इसमें वामन ने ऐसी विशेष शब्द-संयोजना के ऐसे रूप की जिसमें गुण

समाहित हों, रीति माना है। 'पद-रचना' का विशेष स्वरूप इसी शब्द-गठन के द्वारा सिद्ध होता हैं। 'रीति' के अन्वेषक वामन ने 'पद-रचना' को ही विशेष महत्त्व दिया है, गुणों को उतना नहीं। आगे चलकर रीति में 'पद-रचना' के स्थान पर 'गुण' को विशेष महत्त्व मिला। गुणों को 'रस' से सम्बद्ध माना गया, 'पद-रचना' को नहीं। रीतियों के नाम देशों के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली,[1] लाटी[2] आवन्ती तथा मागधी[3] थे। किन्तु आचार्य उद्भट तथा मम्मट ने 'रीति' नाम का परित्याग कर दिया। इन्होंने इसके स्थान पर तीन वृत्तियों का प्रतिपादन किया। उपनागरिका, परुषा और कोमला।

वृत्तियाँ

उपनागरिका वृत्ति मधुरता को प्रकट करने वाले वर्णों द्वारा लिखी जाती है।

"ट ठ ड ढ को छोड़कर क से लेकर म तक के अक्षर अपने पहले अपने वर्ग के अन्तिम अक्षरों से युक्त तथा ह्रस्व स्वर के बीच में पड़े 'र' और 'ण' ये दोनों अक्षर और समासों का न होना व थोड़े समासों का रहना और मधुरतायुक्त भिन्न-भिन्न पदों के योग से बनी हुई रचना (शब्द-रचना) माधुर्य नामक गुण की व्यञ्जिका समझी जाय।"[4]

उपनागरिका-वृत्ति से माधुर्य नामक गुण व्यञ्जित होता है।

ओजस् गुण को प्रकाशित करने वाले वर्णों द्वारा लिखित वृत्ति को परुषा कहते हैं :

"वर्ग"[5] के पहले और तीसरे वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग 'क' 'च' आदि का 'ख' 'छ' आदि के साथ सम्बन्ध (जैसे 'च्छ'

१. ये तीन वामन ने स्वीकार कीं।
२. अग्नि पुराण तथा रुद्रट
३. ये अन्तिम दो भोज ने बढ़ाईं।
४. मम्मट : काव्य प्रकाश पृष्ठ २३० (हि० सा० सम्मेलन-संस्करण)
५. वर्ग से अभिप्राय कवर्ग, चवर्ग, आदि से है।

'त्थ' 'प्फ') और 'ग' 'ज' आदि का 'घ' 'झ' आदि के साथ योग जैसे 'ग्घ' 'ज्झ') और 'र' का नीचे ऊपर योग (जैसे 'र्थ', 'र्क' 'द्र',) और 'ण' के बिना ट वर्ग (ट ठ ड ढ) की अधिकता वाली एवं बहुत से पदों के लम्बे समास वाली कठोर रचना होती है"[१] यह पुरुषा वृत्ति है, और ओज गुण व्यंजित करती है। कोमला वृत्ति माधुर्य और ओज-व्यञ्जक वर्णों से भिन्न वर्णों वाली वृत्ति है।

अतः स्पष्ट है कि शब्द ही नहीं अक्षर भी सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक होते हैं। ये भावानुभूति को अनुभूति के अनुकूल अभिव्यक्त करने में उपयोगी है। भारतीय आचार्यों ने उन्हें वृत्ति के द्वारा सिद्ध किया था।

अलंकार

यहाँ तक अक्षरों के संयोग से बनने वाले शब्दों से सम्बन्धित सौन्दर्य के रूप को प्रस्तुत किया गया है। किन्तु शब्द जब शब्द बनकर वाक्य में 'काव्य' में, प्रयोग में आता है, और 'पद' कहलाता है, तब उस शब्द-योजना अथवा वाक्य या चरण-विन्यास में सौन्दर्य लाने के लिए भारतीय आचार्यों ने शब्दालंकारों को जन्म दिया। अलंकारों का शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध है। शब्दों में अर्थ की या तो बिना बिलकुल चिन्ता किये, या गौणतः उन्हें स्थान देकर जो चमत्कार पैदा किया जाता है, वह शब्दालंकार के अन्तर्गत आता है।

अर्थ

शब्द के उपरान्त दूसरी स्पष्ट वस्तु 'अर्थ' आती है। मनुष्य शब्दों के द्वारा 'अर्थ' प्रकट करता है। अर्थ मनुष्य का वास्तविक अभिप्राय है। वह कुछ कहना चाहता है, उसे कहने के लिए ही शब्द रूपी संकेतों का प्रयोग करता है। यह शब्द-संकेत कभी पूर्ण समर्थ नहीं हो पाते। मनुष्य जो चाहता है उस सबको प्रकट करने योग्य शब्दों का उसके पास अभाव रहता है। भाषा में विकास और शब्द-भंडार की वृद्धि इसी कारण से निरन्तर होती रहती है इसलिए शब्दों से प्रकट होने वाला 'अर्थ' कभी मनुष्य के अभिप्राय का पर्याय नहीं हो पाता। फिर शब्द-निर्माण के नियमों के आधीन कभी 'एक' ही शब्द

---

१. पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ १५७ पाद-टिप्पणी।

के अनेकों 'अर्थ' होते हैं[1] और एक ही अर्थ के लिए भी अनेकों शब्द भाषा में मिल जाते हैं।[2]

शब्द शक्ति

शब्दों के ये अर्थ किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं। यह एक प्रश्न है, जिस पर भारतीय आचार्यों ने विचार किया है। और शब्दशक्तियों का आविष्कार किया है। इन शक्तियों को पारिभाषिक भाषा में 'ध्वनि' कहते हैं। ये तीन मानी गयी हैं।

शक्ति—१–अभिधा २ लक्षणा और ३ व्यंजना। इनसे अर्थ प्राप्तहोते हैं।

अर्थ—१—अभिधेयार्थ वाच्यार्थ, २ लक्षयार्थ (लक्ष्यार्थ) और ३ व्यंग्यार्थ

'अर्थ' और वास्तविक 'अभिप्राय' तक शब्द द्वारा पहुँचने में जो अड़चन पड़ती है उसी के निवारण के लिए इन शक्तियों की उद्‌भावना हुई है।

शब्दों से जो अर्थ मिलता है, उसे अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ कहते हैं। यह पहला अर्थ अभिधा-शक्ति के द्वारा मिलता है। जैसे 'लाठी चली'[3] इसमें वाच्यार्थ केवल यह होगा कि लाठी ने चलने का, एक स्थान से गति करके दूसरे स्थान तक पहुँचने का कार्य सम्पादित किया—यह शब्दों का अर्थ है किन्तु इससे वक्ता का यथार्थ अभिप्राय न तो व्यक्त हो पाता है, न हो सकता है। प्रकृत अर्थ में बाधा पड़ती है। तो उस अर्थ तक पहुँचने के लिए हमें कुछ शब्द इस वाक्य में घटाने-बढ़ाने होंगे। 'परस्पर दो पक्षों' के मनुष्यों के हाथ की लाठियाँ विरोधियों के ऊपर ऐसे गिरीं, जैसे चली हों।' अभिप्राय हो गया 'लड़ाई हो गयी।' 'लाठी चली' एक समूह ने एक विशेषार्थ प्राप्त कर लिया है, इसी कारण यह वाक्य मुहावरा है।

लक्षणा शक्ति इष्टार्थ प्राप्त करने में काव्य में जो कमी रह जाती है उसे

---

१. जैसे, 'रूप का अर्थ आकृति सौन्दर्य भी है और चाँदी भी है। पानी का अर्थ तेज, पाणियुहाथ, जल, आब=चमक।

२. एक 'कमल' के लिए सौ से अधिक शब्द किसी भी कोष में गिने जा सकते हैं।

३. 'सड़क चलने लगी' इस वाक्य में शब्दार्थ में बाधा है 'सड़क' के पैर नहीं हैं, वह जड़ है, वह कैसे चलने लगी, अतः लक्षणा से इसका अर्थ होगा, 'सड़क' पर 'प्राणियों' की भीड़ चलने लगी।

परिस्थिति संयोग को मनन करके पूर्ण करने की चेष्टा करती है। ऊपर के वाक्य में पूर्ण अभिप्राय के लिए कुछ जोड़ना पड़ेगा। 'गंगा पर गाँव' शब्दों से प्राप्त अर्थ में जब बाधा पड़ती है तो उन शब्दों में कुछ बढ़ाकर अर्थ प्राप्त हो जाता है—'गंगा के किनारे पर गाँव'। यह अर्थ ही वक्ता को अभीष्ट होगा। यह अर्थ लक्ष्यार्थ है और जिस शक्ति के द्वारा ऐसा अर्थ प्राप्त होता है, वह लक्षणा है।

किन्तु वक्ता को कभी-कभी ऐसे वाक्यों से कुछ और अभिप्राय भी प्रकट करना होता है। वह 'गंगा पर गाँव' से सम्भवत: यह भी प्रकट करना चाहता है, वहां पुण्यात्मा रहते हैं, वहाँ का जलवायु बहुत श्रेष्ठ हैं। यह अर्थ हमें व्यंजना से मिलता है।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ शब्द के साधारण अर्थ से उन समस्त अर्थों, तात्पर्यों और अभिप्रायों तक ले जाती हैं जो 'शब्द' अपनी अपूर्णता तथा संकेत-हीनता के कारण प्रकट नहीं कर सकते।

काव्य-कोटि

अब यहीं एक बात यह द्रष्टव्य है कि ये जो शब्द-शक्तियाँ थीं, और जिनका अभिप्राय केवल शब्दों के उस अर्थ तक पहुँचाना था, जो वक्ता को अभिप्रेत था स्वयं अर्थ में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाली मान ली गयी। ध्वनि-संप्रदाय भारतीय साहित्य-शास्त्र का प्रधान सम्प्रदाय है। इसने इन तीन शक्तियों से प्राप्त अर्थ वाले काव्य की तीन कोटियाँ निश्चित कर दीं।

"अभिधा-शक्ति के ही चमत्कार पर निर्भर रहने वाली रचना अधम काव्य।

लक्षणा-शक्ति के ही चमत्कार पर निर्भर करने वाली रचना मध्यम काव्य।

व्यंजना-शक्ति के ही चमत्कार पर निर्भर करने वाली रचना उत्तम काव्य।"

इस प्रकार ये शक्तियाँ, ही काव्य की कसौटी स्वीकार कर ली गयी।

ध्वनि

ध्वनिकार का कथन है कि जब वह वाणी-विलास अभिधा-लक्षणा की

सीमाओं का उल्लंघन करके व्यंजना की सीमा में पहुँच जाता है, तभी केवल काव्य की उद्भावना हो सकती है। अभिधा-लक्षणा में काव्य सम्भव ही नहीं– यदि कोई आग्रह करे कि अभिधा-लक्षणा में भी काव्य हो सकता है, तो वह अधम अथवा मध्यम काव्य होगा।

यहाँ तक हमने उन तत्वों का सामान्य परिचय दिया है, जो भारतीय दृष्टिकोण से काव्य में अपेक्षित हैं, किन्तु अब कुछ अन्य दृष्टियों ने कुछ नये तत्व भी दिये हैं।

सौंदर्य एक ऐसा ही तत्व माना जा सकता है। यह प्रेय और श्रेय दोनों से भिन्न है।

सौन्दर्य

'कल्पना' की दृष्टि से प्राप्य 'अर्थ' एक निजी विशेषता लिये होता है। कल्पना, प्रकृति और पुरुष की अद्भुत सृष्टि कर सकती है, देवी-देवताओं की कर सकती है, उड़ने वाले मनुष्यों की, मनुष्य-वेषी तारिकाओं की, अर्द्धनारीश्वर की, अर्द्धपशु-मानव की कल्पना विलक्षण की सृष्टि भी करती है, सौन्दर्य की सृष्टि भी करती है। इस सम्बन्ध में क्रोचे की दृष्टि से सौन्दर्य-बोध का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शुक्लजी कहते हैं—

"सौन्दर्य से उसका (क्रोचे का) तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौन्दर्य से है, उक्ति के सौन्दर्य से, किसी प्रस्तुत वस्तु में सौन्दर्य कहाँ ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौन्दर्य नहीं मानते।"

यहीं यह प्रश्न उदय होता है कि सौन्दर्य कहाँ स्थित है ? वह वस्तु में है, अथवा व्यक्ति में है।

वस्तुगत (आब्जेक्टिव) सौन्दर्य में विश्वास रखने वाले व्यक्ति कहते हैं कि प्रकृति पदार्थ जगत् में ही वास्तविक सौन्दर्य है। मनुष्य प्रकृति के असुन्दर और सुन्दर के तारतम्य में से सुन्दर की ओर आकर्षित होता है और उसी आधार पर सौन्दर्य की अपनी कल्पनाएँ निर्धारित करता है। प्रकृति ने अपने निर्माण में वैविध्य रखा है, जिसमें रूप-कुरूप, सुन्दर-असुन्दर का संयोजन सर्वत्र है। तुलना की बुद्धि यहीं जागृत होती है, और व्यक्ति असुन्दर से विरक्त होता है, सुन्दर की ओर आकर्षित होता है। अतः सौन्दर्य वस्तु में है।

सौन्दर्य कहाँ

व्यक्तिगत (सब्जैक्टिव) सौन्दर्य को ही मानने वाले आस्कर वाइल्ड भी क्रोचे की भाँति ही मनुष्य की कल्पना में सुन्दर की स्थिति मानते हैं। आस्कर वाइल्ड ने बताया है कि जिस उषा को कवि सुन्दर कहता है, और उसकी इतनी प्रशंसा करता है, वह क्या किसान को भी सुन्दर लगती है ? सुन्दरता किसी वस्तु में नहीं, मन में है। जिस वस्तु के प्रति सौन्दर्य का भाव जागृत हो गया वह सुन्दर हो गयी। उसका वर्णन कवि ने किया, और अपनी सौन्दर्यानुभूति से अन्य व्यक्तियों को भी प्रभावित करके सौन्दर्य की भावना से अभिभूत कर दिया। यह केवल दार्शनिक वर्कले के सिद्धान्त के आधार पर नही कि वस्तु-जगत् की स्थिति ही केवल मानसिक है। वरन् इसलिए कि सौन्दर्य एक भावना है, जो मनुष्य के मन में ही जागृत होती है। उस मन की भावना को सन्तुष्ट करने के लिए ही वह प्रकृति के पसारे में से विविध रूप-रंगों को चुनता है, इस चुनाव में उसका भाव स्पष्ट यह होता है कि यह वस्तु मेरे मन के अनुकूल है—इसमें यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य वस्तु में नहीं, मन में है। कमल सुन्दर नहीं, वह सुन्दर लगता है; क्योंकि मनुष्य ने उसे अपनी मनोभावना में उदित सौन्दर्य की भावना के कुछ-कुछ अनुकूल पाया है।

ये दो एक-दूसरे से बिलकुल विरोधी मत हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि सौन्दर्य वस्तु और मन की पारस्परिक क्रिया का परिणाम है।

उक्ति तथा शैली

ऊपर अर्थ की कोटियाँ दी गयी हैं, उनके अतिरिक्त 'उक्ति' सम्बन्धी भी 'अर्थ' होता है। यह अर्थ' शब्द और अर्थ के निजी घनिष्ठ संपर्क के कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि 'शब्द और अर्थ' का संयोग हो जाने से ऐसा 'शब्द और अर्थ' व्यक्तिगत वस्तु हो जाता है। यह अर्थ वस्तु से पृथक् सत्तावान हो जाता है और चाहे जहाँ व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार नियोजित किया जा सकता है।

कथन की विविध शैलियाँ होती हैं, इन्हीं शैलियों में से विशेष प्रकार की चमत्कार पूर्ण शैली अलंकार कही जायगी।

किसी भी बात को वर्णन करने के अनेक ढंग हो सकते हैं। ये ढंग ही 'शैली' कहे जाते हैं। इनमें से अलंकारों को प्रयोग में लाने वाली भी शैली होती है—और अलंकारों की यह शैली भी कितने ही प्रकार की हो सकती है, अतः अलंकार भी अनेकों और कितने ही प्रकार के हो सकते हैं। क्यों केवल एक ही प्रकार से बात नहीं कही जाती ? क्यों उसके इतने रूप होते है ?

एक 'कुल्हड़' शब्द का प्रयोग करेगा, दूसरा 'मृत्पात्र' का, एक 'मटकन्ना' कहेगा। एक 'पानी पीजिये' कहेगा, एक 'जल आरोगिये' कहेगा, 'जलपान कीजिये' कहेगा—ये सब कथन-भेद यों ही अकारण नहीं हो जाते। ये वक्ता मनुष्य की मनःस्थिति के द्योतक होते हैं, यही नहीं उससे उसका इतना गहरा सम्बन्ध हो जाता है कि वह वक्ता के 'चरित्र' के और उसके व्यक्तित्व के द्योतक हो जाते हैं। तभी यह कहा गया है कि 'स्टाइल इज मैन' अथवा 'करैक्टर इज स्टाइल'। मनुष्य का अपना निजी व्यक्तित्व होता है। साहित्य उस व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है, इस अभिव्यक्ति में उसका व्यक्तित्व छलकेगा ही। शैली ही व्यक्तित्व है, इसी कारण शैली के अनेक अनन्त भेद हो जाते हैं। शैली शब्द और अर्थ दोनों के संयोग की रसायन से उत्पन्न होती है। इसके एक छोर पर 'रीति और वृत्ति' है जो शब्द-संयोजना के रूप से सम्बंधित है, दूसरा छोर 'रस' है जो काव्य की आत्मा की भाँति ही मनुष्य की जीवन-स्थिति का सार हैं। रीति अथवा वृत्ति का इस जीवन-सार रस से जिस माध्यम द्वारा सम्बन्ध होता है, वे गुण कहलाते हैं। मम्मट ने 'गुण' की जो परिभाषा दी है, वह ध्यान देने योग्य है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हैतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥ ६६ ॥

जैसे शौर्य आदि आत्मा के गुण हैं, वैसे ही रस के वे गुण हैं जो उसे उत्कर्ष अथवा बड़प्पन देते हैं।

इसमें मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है कि गुणों का नियत सम्बन्ध रस से है। गुणों के सम्बन्ध में बहुत आरम्भ से ही विचार किया जाता रहा है। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में दोष के वैपरीत्य को ही गुण बताया। 'अग्नि पुराण' ने गुण को काव्य को शोभित करने वाला बताया। भामह तथा दण्डी गुण की परिभाषा के विषय में स्पष्ट नहीं। वे गुण तथा अलंकार दोनों को शोभाकर मानते हैं। दण्डी गुणों को एक मार्गगत बताते हैं। गुण की संख्या दण्डी ने भी मानी है। वामन ने इन गुणों को व्यवस्थित कर दिया। इन्होंने शब्द के दस और अर्थ के दस गुण माने। महाराज भोज ने इस संख्या को बढ़ाकर २४-२४ कर दिया। किन्तु आगे चलकर मम्मट ने इन सबको 'माधुर्य,' 'ओज' और 'प्रसाद' बस इन तीन गुणों में समन्वित कर दिया। मम्मट ने, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, गुणों का नित्य सम्बन्ध 'रस' से सिद्ध कर दिया। उधर वे गुण, शब्द तथा अक्षरों की संयोजना अथवा रीति अथवा शैली से भी सम्बन्धित हैं। यह भारतीय दृष्टिकोण भी शैली का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व से ही सिद्ध करता है।

शैली का सम्बन्ध 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों से ही होता है। अतः शैली के अंग अलंकारों का सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ दोनों से होता है। भारतीय आचार्यों ने इसी आधार पर शब्दों से संबन्धित अलंकारों को शब्दालंकार, अर्थ से संबंधितों को अर्थालंकार बताया है।

अर्थालंकार के अन्तर्गत और भी कितने ही प्रकार होते हैं, पर वे उक्ति के अन्तर्गत ही समाविष्ट होंगे। वस्तु का ज्ञान वस्तु के द्वारा कराने की संयोजना में सादृश्य निर्भर अलंकारों का ही उल्लेख होगा। उक्ति पर यहाँ कुछ विस्तृत विचार करें। 'उक्ति' का अर्थ है कथन में चमत्कार। कथन मे चमत्कार सादृश्य-सम्बन्धी अलंकार-योजना से भी आता है। अतः व्यापक दृष्टि से वे अलंकार भी 'उक्ति' के अन्तर्गत आ सकते हैं। उधर कथन में किसी भी प्रकार का चमत्कार 'अलंकार' अथवा शोभाकर होता है,अतः सभी प्रकार की उक्तियाँ 'अलंकार' के अन्तर्गत आयँगी।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में सचमुच एक ऐसा युग आया था जिसमें

'उक्ति' को इतना प्राधान्य दिया गया था कि 'वक्रोक्ति'-सम्बन्धी एक पृथक् सम्प्रदाय ही स्थापित हो गया था। इसने अलंकार को उक्ति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया था। भामह ने तो अलंकारों में वक्रोक्ति का होना अनिवार्य माना था। भामह की दृष्टि से कथन की विशेषता मात्र वक्रोक्ति कही जायगी। 'वक्रोक्ति जीवितकार' ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा तक का पद दिया। 'वक्रोक्ति जीवितकार' ने वक्रोक्ति की वह परिभाषा दी है—

लोकोत्तर चमत्कार कारि वैचित्र्य सिद्धये।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंङ्गी भणितिरुच्यते ॥

अभिप्राय यह है कि वक्रोक्ति में कवि की रचना का चातुर्य होता है और वह चातुर्य विचित्र उक्ति में प्रकट होता है।

अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति

वक्रोक्ति के साथ ही यभिव्यञ्जनावाद (एक्सप्रेसनिज्म) का उल्लेख अनिवार्य हो जाता है—क्योंकि शुक्लजी ने लिखा है :

"क्रोचे का 'अभिव्यञ्जनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर उठे थे।" अभिव्यञ्जनावाद का भी सम्बन्ध उक्ति से है। अभिव्यञ्जनावाद उक्ति का सौन्दर्य से सम्बन्ध करता है—और सौन्दर्य की परिभाषा यों करता है—"हम सौन्दर्य की परिभाषा में कह सकते हैं कि सफल अभिव्यक्ति अथवा और भी ठीक शब्दों में कहा जाय तो अभिव्यक्तिमात्र ही 'सौन्दर्य' है, क्योंकि जो सफल नहीं है वह अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।" इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि क्रोचे अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्य मानता है, अभिव्यक्त वस्तु में नहीं।

उसके मत से कवि के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य मानसिक सौन्दर्य के लिए कारण नहीं, वह तो केवल उद्दीपक अथवा प्रेरक है। सौन्दर्य की स्थिति मन में है, उसी की अभिव्यञ्जना कला में पुनर्सृजन अथवा पुनःसृष्टि के रूप में होती है। प्रकृति उसी मनःस्थित कल्पना की अनुभूतियों को केवल उद्दीप्त कर देती है जिससे वह सौन्दर्य-कल्पना अभिव्यक्ति में उतर आती है।

अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया कि इस प्रकार की सौन्दर्याभिव्यक्ति 'उक्ति' में उतरकर ही 'काव्य' कहलाती है।

वक्रोक्ति 'उक्ति' की वक्रता को प्रधानता देती है। अभिव्यञ्जनावाद उक्ति में सौन्दर्य को मानता है। फलतः वक्रोक्ति अभिव्यञ्जनावाद का एक अङ्ग-भर माना जा सकता है। भारतीय दृष्टिकोण से भी यह 'वक्रोक्ति' आगे चलकर केवल 'अलङ्कार' का एक भेद-मात्र रह गया। 'वक्रोक्ति' अलङ्कार के दो भेद मान लिये गये—काकु-वक्रोक्ति तथा श्लेष वक्रोक्ति। और यह वक्रोक्ति इस प्रकार यथार्थ में शब्दालंकार-भर रह गया।

यहाँ तक 'शब्द' और 'अर्थ'-सम्बन्धी विविध तत्त्वों का निरूपण हुआ।

किन्तु 'शब्द' और 'अर्थ' तो वस्तुतः काव्य का शरीर ही हैं। क्योंकि 'शब्द' तो काव्य का स्थूल शरीर है। अर्थ वास्तविक शरीर है। 'अर्थ' में ही तो वास्तव में काव्य प्रतिष्ठित होता है।

'अर्थ' वह चाहे अभिधेयार्थ हो, चाहे लक्ष्यार्थ और चाहे व्यंग्यार्थ हो 'वस्तु' का ज्ञान कराता है। वस्तु का कितना ही चमत्कारपूर्ण अथवा सौंदर्य-परक वर्णन क्यों न हो वह मात्र वर्णन 'काव्य' नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य अथवा चमत्कार की मानसिक प्रेषणीयता का अर्थ केवल कुछ मनोरम अथवा फड़काने वाले मानसिक चित्र ही तो प्रेषित करना है। पर उन चित्रों का मनुष्य के अपने लिए क्या अर्थ है ? वे चित्र क्यों ? मनुष्य केवल बौद्धिक ही नहीं, रागात्मक भी है। बौद्धिक 'कन्सेप्ट्स' अथवा इमेजेज मनुष्य के लिए उस समय तक निरर्थक हैं जब तक वह उनका उपभोग नहीं कर लेता। यह 'राग' बौद्धिक उन्मेषों का उपभोग ही है। बौद्धिक उन्मेषों से कोई-न-कोई राग उत्पन्न होना चाहिये, और उस राग से मनुष्य को कोई-न-कोई तृप्ति अवश्य मिलनी चाहिये।

यहीं भारतीय आचार्यों ने 'शब्दार्थ'-सम्बन्धी काव्य शरीर में 'आत्मा' की कल्पना की—और आत्मा को नाम दिया 'रस'।

'रस' का प्रथम उल्लेख भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है।

रस

भरत मुनि ने ये रस आठ माने हैं—

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत। कुछ शास्त्रकारों ने 'शान्त' को भी रस माना है, इस प्रकार काव्य में नवरस प्रसिद्ध हुए हैं।

रस का सम्बन्ध मनोभावों से है। मन में विकार उत्पन्न होता है, विकार का अर्थ परिवर्तन है। मनोविकार भाव कहलाता है। एक भाव परिपक्व हो जाने पर ही रस कहलाता है। जो भाव इस प्रकार परिपाक पा लेता है या पा सकता है वह स्थायी भाव कहलाता है। स्थायी भाव वस्तु में आरम्भ से अन्त तक बना रहता है और निरन्तर वृद्धि पाता रहता है। स्थायी भाव का विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बीज का वृक्ष, पुष्प और फल में। स्थायी भाव को परिपक्व करने के लिए विभावों की आवश्यकता होती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं 'आलम्बन और उद्दीपन'। आलम्बन के बिना स्थायी भाव अथवा रस की स्थिति ही नहीं हो सकती। जिस प्रकार वृक्ष के लिए खेत की आवश्यकता है, उसी प्रकार आलम्बन की रस के लिए है। रस के बीजारोपण के लिए दो चीजों की आवश्यकता है। एक अवलम्ब, जिसके सहारे स्थायी भाव उत्पन्न हों, दूसरे आश्रय, जिसमें रस का भाव जमे। भक्त और भगवान् में भगवान् अवलम्ब है, और भक्त, जिसमें भक्ति उदय होती है, आश्रय है। रस का बीज पड़ जाने पर, जो वस्तुतः उदय होता है, उसको तीव्र करने और अंकुरित करने के लिए 'उद्दीपन' की अपेक्षा होती है। वीर रस में शत्रु की ललकार, युद्ध के वाद्य, तलवारों की चमचमाहट, विशाल सेनाओं का प्रदर्शन देखकर उत्साह उत्पन्न होता है। ये सब उद्दीपन विभाव हैं। विभाव, इसलिए, रस के कारण हैं।[१]

'संचारी भाव' भाव के सागर में उठने और गिरने वाली लहरें हैं, ये आते और चले जाते हैं। इस व्यापार से स्थायी भाव में उत्तेजना रहती है, वह और पकने लगता है। ये स्थायी भाव में ही आविर्भूत (उन्मग्न) तथा तिरोभूत (निमग्न) हो जाते हैं।[२] ये संख्या में तेतीस माने गये हैं। रस के संचरित होने

१. विभाव कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः ['नाट्य शास्त्र']

२. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नास्त्रयस्त्रिंशच्चतद्भिदाः॥ ['साहित्य दर्पण']

से शरीर में जो विकार होने लगते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। ये परिपक्व रस के बाह्य शारीरिक प्रदर्शन हैं, इनके द्वारा दर्शक पर नाटक के पात्रों के हृदय और मस्तिष्क का रूप प्रकट हो जाता है। जैसे—रौद्र रस के संचार में दाँत किटकिटाना, मुट्ठी बाँधकर धमकी देना, भारी पग रखना, लाल आंखें दिखाना आदि।

रस के पूर्ण परिपाक के लिए विभाव, संचारी भाव तथा अनुभाव इन तीनों की ही आवश्यकता होती है। एक चौथा तत्त्व और है जो सात्विक भाव कहलाता है। सात्विक भाव भी अनुभाव की भाँति शारीरिक विकार हैं। साहित्यदर्पणकार ने इन्हें सत्वगुण से उत्पन्न माना है। सत्वगुण अपनी आत्मा में अधिष्ठित होने वाले रस के प्रकाश करने का जो हृदय का–अन्तःकरण का–स्वाभाविक धर्म है उसे कहते हैं। इससे उत्पन्न होते हैं सात्विक गुण। ये हैं स्तम्भ-शरीर की चेष्टाओं का रुक जाना, स्वेद—पसीना, रोमांच—रोंगटे खड़े होना, स्वरभंग–गद्गद होना, गला भर आने के कारण स्वर रुक जाना, वेपथु–शरीर का कम्पन, वैवर्ण्य—रंग बदल जाना, अश्रु—आँसू बहाना, प्रलय—शरीर की चेष्टाओं का ही रुक जाना नहीं, ज्ञान का भी लोप हो जाना प्रलय है। इतने भाव सात्विक कहलाते हैं। ये भावावेश में स्वयं उदय हो जाते हैं, और प्रत्येक रस में होते हैं।

प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है।

रस		स्थायी भाव
शृङ्गार	संयोग विप्रलम्भ	रति
हास्य		हास
करुण		शोक
रौद्र		क्रोध
वीर	दया दान युद्ध	उत्साह

भयानक	भय
वीभत्स	जुगुप्सा (घृणा)
अद्भुत	विस्मय
शान्त	निर्वेद या सम

भरत मुनि ने शान्त को रस नहीं माना । उनका दृष्टिकोण प्रधानतः नाटकों की दृष्टि से है । 'शान्त' रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' अथवा विरक्ति ऐसा प्रवल मनोवेग नहीं जो अभिनय के योग्य हो सके । बाद के आचार्यों ने 'शान्त' को रस मान लिया है, और आज रसों की संख्या ९ मानी जाती है ।[1]

'शान्त' के स्थायी भाव के सम्बन्ध में भी थोड़ा मतभेद है ।

रस की निष्पत्ति

रस के इस विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि यह किस में उदय होता है । क्या नाटक के पात्र में होता है ? अथवा दर्शकों में ? यदि रस नाटक के पात्रों में उदय हो तो, वे अपनी रस-मग्नता के कारण नाटक को अवरुद्ध कर देंगे । दर्शकों में ही रस का उदय होता है तो दर्शकों में न तो कोई नायक है, न नायिका, वे तो मात्र दर्शक हैं । उनमें यदि रस की स्थिति मानी जाय तो वीर रस के उदय होने पर दर्शकों को उसके अनुभावों के अनुकूल व्यापार करने लग जाना चाहिये ? ऐसा नहीं होता । कवि में रस की स्थिति मानी जाय तो उसका कवि-कर्म रुके । उसके निजी रसोद्रेक से पाठकों अथवा दर्शकों को आनन्द कैसे आ सकता है ? यह प्रश्न शास्त्रियों में उत्पन्न हुआ है ? इस प्रश्न को 'रस-निष्पत्ति'-सम्बन्धी प्रश्न कहा गया है, भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रस-निष्पत्ति' के सम्बन्ध में निम्नलिखित

---

१. इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि 'भरत' के समय में आठ ही रसों की परम्परा थी । उसी परम्परा के कारण 'भरत' ने भी 'नाट्य-शास्त्र' में आठ ही रसों का उल्लेख किया है । इस मत से अभिनेता अपनी मनोवस्था की स्थिति से 'शान्त' को भी प्रदर्शित कर सकता है, उसके मन की स्थिति अनुकूल होनी चाहिये ।

मत प्रस्तुत हुए—

१. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

२. शंकुक का अनुमितिवाद

३. भट्ट नायक का भुक्तिवाद

४. अभिनव गुप्ताचार्य का अभिव्यक्तिवाद

उत्पत्तिवाद

भट्ट लोल्लट ने बताया कि १—विभाव कारण है, और रस कार्य। कारण से जैसे कार्य उत्पन्न होता है, वैसे ही विभावों से 'रस' उत्पन्न होता है। २—रस का अनुभव सामाजिकों को इस कारण होता है कि वे नटों में शकुन्तला-दुष्यन्तादि के रति आदि के भाव की उपस्थिति अनुभव करते हैं। इसी अनुभव से उन्हें रस की प्रतीति होती है।

इस 'आरोप' के सिद्धान्त के कारण भट्ट लोल्लट के मत को आरोपवाद भी कहते हैं।

अनुमितिवाद

इस स्थिति में शंकुक ने 'अनुमितिवाद' प्रस्तुत किया। अनुमान से रस की स्थिति सिद्ध होती है। इसके अनुसार रस की यथार्थ स्थिति तो दुष्यन्त तथा शकुन्तला में ही है, पर नट में उसकी स्थिति का 'अनुमान' कर लिया जाता है। इसी अनुमान से सामाजिक अथवा प्रेक्षक उस रस का आस्वाद प्राप्त करता है। यह अनुमान ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार चित्र के घोड़े को देखकर यह बोध होता है कि यह घोड़ा है।

इस पर भी कई आपत्तियाँ की गयीं।

भुक्तिवाद

इन आपत्तियों का समाधान करने के लिए भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' की अवतारणा की।

इस मत के प्रतिपादन के लिए उसने काव्यादि द्वारा भाव से रस तक पहुँचने के तीन व्यापार माने—

१. **अभिधा**—इस व्यापार के द्वारा काव्य के सामान्य अर्थ का ज्ञान होता है।

२. **भावकत्व**—भावकत्व के व्यापार से काव्य-वर्णित पात्रों का साधारणीकरण हो जाता है। दुष्यन्त दुष्यन्त न रहकर मनुष्य, शकुन्तला शकुन्तला न रहकर स्त्री-मात्र रह जाती है; देश, काल, व्यक्तित्व आदि की सीमाएँ और बन्धन गल जाते हैं। इस साधारणीकरण से एक मनुष्य का भाव दूसरे के द्वारा भोग करने योग्य हो जाता है, क्योंकि भावना के द्वारा उस भोग की बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

३. **भोजकत्व**—इस व्यापार द्वारा साधारणीकरण के उपरान्त रसास्वाद होने लगता है। यह भोग अथवा रसास्वाद विशेष प्रकार का होता है। भोग का अर्थ यह किया गया है—"सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद्विश्रान्ति"। दुःख-सुख का अनुभव सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के कारण होता है। जब शेष दो भावों का तिरस्कार करके सत्व-भाव की प्रधानता होती है, तब 'आनन्द' प्रकट होता है, यह ही आनन्द का भोग है।

इस विधि से अभिधा से प्राप्त काव्यार्थ में साधारणीकरण से इसके आस्वाद से आनन्द ही उपलब्ध होता है।

अभिव्यक्तिवाद

इस मत पर जो आपत्तियाँ हुईं—उनके उपरान्त अभिनव गुप्ताचार्य ने अपना 'अभिव्यक्तिवाद' प्रस्तुत किया। इन्होंने कहा—

१. स्थायी भाव सामाजिकों के हृदय में वासनारूपेण सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु अप्रकट स्थिति में।

२. काव्य-पठन अथवा दर्शन से व्यंजना होती है।

३. इस व्यंजना से विभाजित व्यापार द्वारा साधारणीकरण होता है।

४. इससे व्याप्त स्थायी भाव जागृत हो उठते हैं।

५. सामाजिकों को भी रस का अनुभव होने लगता है।

६. रस-निष्पत्ति का अर्थ रस-अभिव्यक्ति है।

साधारणीकरण

रस की निष्पत्ति में साधारणीकरण का विशेष महत्त्व है। 'साधारणीकरण के बिना रस की आनन्ददायक अनुभूति सम्भव नहीं। साधारणीकरण

के द्वारा 'अपने पराये' के सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जिससे न ममत्व का भाव रहता है, न ईर्ष्या का; न सुख का, न दुःख का। 'मम-पर' के सम्बन्धों से रहित मनुष्य का मन जब शुद्ध स्थायी भावों के परिपाक की अनुभूति करता है तब रसास्वाद में 'आनन्द' मिलता है। बिना इसके न तो काव्य के रस का ही अनुभव हो सकता है, न आनन्द का ही।

पद्य तथा काव्य

काव्य की अन्तिम परिभाषा 'शब्द' की चर्चा नहीं करती, 'वाक्य' की करती है। हिन्दी की दृष्टि से यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिये कि यह 'वाक्य रचना' उक्त रस रूपी आत्मा को ग्रहण करने के लिए एक विशेष प्रकार की होनी चाहिये। ऐसी विशिष्ट रचना को पद्य कहा जाता है। संस्कृत में तो क्या पद्य क्या गद्य दोनों की रचनाएँ काव्य के अन्तर्गत ही आती हैं। पर हिन्दी में काव्य का 'पद्य' से एक प्रकार से नित्य सम्बन्ध हो गया है।

पद्य में कवि को कई सुविधाएँ मिलती हैं, एक तो पद्य किंचित् संगीत-तत्त्व से युक्त होना है, प्रत्येक चरण सन्तुलित होता है एक विशेष तौल अथवा परिमाण अक्षरों के द्वारा प्रत्येक चरण में सिद्ध किया जाता है। उसके लिए साधारण वाक्यों की व्याकरण-परक व्यवस्था को भी उलटा-पुलटा जा सकता है।

गद्य में यदि एक वाक्य यों है—

"उस अलस उषा में अपनी आँखों का तारा तुम्हारा सुन्दर प्रतिबिम्ब प्राची के अरुण मुकुर में देखूँ।"

तो इसे पद्य में कवि इस प्रकार रखेगा—

प्राची के अरुण मुकुर में,
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूँ,
अपनी आँखों का तारा॥

पद्य तथा छन्द

गद्य का यह पद्य रूपान्तर दो विधियों से होता है—एक 'वर्णिक'

कहलाती है, इसमें 'वर्ण' को इकाई मानकर चरण तौले जाते हैं, दूसरी विधि 'मात्रिक' कहलाती है, इसमें मात्रा को इकाई माना जाता है। इन दोनों ही तौलों अथवा विधियों का मूलाधार 'लघु' तथा 'गुरु' मात्रा अथवा वर्ण है।

वर्णिक वृत्तों में प्रत्येक चरण में 'लघु' वर्ण और 'गुरु' वर्ण का एक विशेष क्रम और संख्या निश्चित रहती है। लघु वर्ण वे होते हैं, जिनमें लघु मात्राएँ 'अ', 'इ', 'उ' तथा ऋ होती हैं। शेष मात्रा वाले वर्ण दीर्घ होते हैं, तथा वे लघु वर्ण भी दीर्घ माने जाते हैं जो किसी संयुक्त वर्ण से पूर्व एक ही शब्द में आते हैं। वर्णिक वृत्तों में सुविधा के लिए 'लघुगुरु' के तीन-तीन वर्णों के समूह 'गणों' के नाम से निर्धारित कर लिये गये हैं। 'लघु गुरु' युक्त तीन वर्णों के समूह के कुल आठ गण होते हैं। इन गणों और लघु गुरु के संयोग से वृत्तों का निर्माण किया जाता है।

ये वर्णवृत्त विशेषतः संस्कृत-साहित्य की सम्पत्ति हैं। हिन्दी में ये संस्कृत से ही उधार लिये गये हैं, और हिन्दी के बहुत कम कवि ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकार के वर्ण-वृत्तों का उपयोग किया है। ऐसे वृत्तों का उपयोग करने वाले कवियों की प्राचीन काव्य परिपाटी में महाकवि केशव प्रमुख हैं, और आधुनिक युग में हरिऔध जी ने अपना 'प्रिय प्रवास' ऐसे संस्कृत वृत्तों में लिखा है।

'वर्ण' की इकाई पर आश्रित काफी लोच और तरलता रखने वाला एक छन्द 'कवित्त' है। कवित्त में 'गुरुलघु' के किसी क्रम का कोई विचार नहीं होता, और न मात्रा के परिमाण पर ही ध्यान दिया जाता है। केवल वर्णों की गिनती रहती है। यह कवित्त हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल रहा है, और रीतिकाल में तो अधिकांश रचना इसी छन्द में हुई है।

हिन्दी मात्रिक छन्दों को पसन्द करती है। मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गिनती होती है। लघु (।) वर्ण एक मात्रा का माना जाता है, और गुरु (ऽ) वर्ण दो मात्रा का। प्रत्येक चरण में मात्राएँ निश्चित होती हैं। उदाहरण के लिए 'रोला' नामक छन्द में प्रत्येक चरण २४ मात्राओं का होगा, और उसमें ११ तथा १३ पर यति होगी। छन्दों की संख्या बहुत है, और उसका पूरा ज्ञान किसी भी छन्द-शास्त्र से हो सकता है।

हिन्दी के छन्दों में 'तुक' को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है, आधुनिक युग से पूर्व तुकहीन रचना की कल्पना साधारणतः नहीं की जा सकती थी, यद्यपि महाकवि केशव ने संस्कृत के अनुकरण पर तुकहीन वृत्त भी रचा। आधुनिक युग में कितने ही नये प्रभावों के कारण तुकहीन रचना की ओर भी प्रयोग हुए। हरिऔध जी ने तो इसके लिए एक सुगम मार्ग निकाल लिया। संस्कृत वृत्तों का प्रयोग किया। संस्कृत में भी तुक का अभाव है। पर साधारणतः उपाध्याय जी की शैली का अनुकरण नहीं किया गया। नये युग के रोमांटिक कवियों पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव पड़ा, और उन्होंने हिन्दी के मात्रिक छन्द अथवा वर्णिक वृत्त की विशेष चिन्ता न करके 'स्वर-तौल' पर अंग्रेजी 'सिलेबिल' के अनुकरण पर, लययुक्त रचनाएँ प्रस्तुत कीं। आरम्भ में तो इन लयों के चरणों में पारस्परिक संतुलन रहा, जैसा पन्त जी की रचनाओं में मिलता है, किन्तु स्वच्छन्दतावादिनी भावुकता कहीं-कहीं इतनी बढ़ी कि 'लय' की अपेक्षा 'गति' की शक्ति को ही महत्त्व दिया गया। न तुक रही, न चरण-संतुलन। कोई चरण बड़ा कोई छोटा, केवल एक प्रवाह और यति-सौष्ठवमात्र नयी रचनाओं में दृष्टिगोचर हुआ। ऐसी काव्य-रचना में निराला जी विशेष दक्ष हैं—निराला जी की 'जूही की कली' से यह उद्धरण लीजिये—

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न,
अमल कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए ये शिथिल, पत्राङ्क में,

'पद्य' अपनी किंचित् संगीतमयता के कारण माधुर्य और मार्दव तो भावों के साथ लाता ही है, वह एक प्रवाह, शक्ति और लोच भी उत्पन्न कर देता है, जो नियम-बद्ध रूक्ष गद्य में संभव नहीं। विशेष रस अथवा भाव के लिए विशेष छंद की अनुकूलता इसीलिए देखी जाती है। वस्तुतः काव्य-समीक्षा में शब्द-सौन्दर्य से साथ, छन्द-सौन्दर्य भी देखना होता है, क्योंकि बिना उचित छन्द के भाव भी पंगु हो सकता है।

काव्य और जीवन

इस दृष्टि से काव्य का क्या अभिप्राय स्वीकार किया जायगा। रसवादी

रस के द्वारा आनन्द की प्राप्ति को ही काव्य का अभीष्ट स्वीकार करता है। प्रश्न यह है कि यह आनन्द क्यों अपेक्षित है ? एक तो आनन्द का सिद्धान्त प्राकृतिक है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक प्राणी आनन्द की खोज में संलग्न है। मनुष्य इस नियम के बाहर नहीं। मनुष्य जीवन का महत्तम ध्येय 'आनन्द' प्राप्त करना है। प्राणी रूप में मनुष्य जो आनन्द प्राप्त करता है, वह तृप्ति अथवा सुख के रूप में होता है। तृप्ति अथवा सुख का सीधा सम्बन्ध इन्द्रियों से है। फलत. प्राणीरूप में मनुष्य का आनन्द ऐन्द्रिय-आनन्द है, पाशविक; दूसरे शब्दों में, यह आनन्द क्षण-स्थायी है, इस आनन्द की उपलब्धि के उपरान्त मनुष्य हारा हुआ-सा प्रतीत होने लगता है। उसमें विरक्ति भी उत्पन्न होती है, किन्तु इसी आनन्द के अनुसन्धान में वह मानसिक और आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि का मार्ग भी प्रस्तुत कर लेता है। यह उसे 'साहित्य-संगीत-कला' के द्वारा प्राप्त होता है।[1] भारतीय विचारकों ने, इसलिए, साहित्य-संगीत-कला को मनुष्य के लिए अनिवार्य बताया है।

मनुष्य-जीवन के लिए 'साहित्य' इस दृष्टि से भी अनिवार्य है, क्योंकि मनुष्य का मनुष्यत्व काव्य अथवा साहित्य के द्वारा ही अभिव्यक्त है। ऐन्द्रिय सुखोपभोग से मानसिक आनन्द अधिक स्थायी है, और स्थायी ही नहीं वह किंचित् अभ्यास से पुनः प्रादुर्भूत हो सकता है, उसकी स्मृति-चित्रावली यथार्थ से भी अधिक मनोरम और आनन्दप्रद होती है। अंग्रेजी कवि वर्ड्स्वर्थ ने सौन्दर्य के इस मूर्त मानसिक साक्षात्कार के पुनरावृत्त आनन्द का उल्लेख एक कविता में किया है। इस आनन्द का जीवन में पलायनवादी मूल्य ही नहीं है, जैसा कुछ लोग विचारते हैं। ये पलायनवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने वाले विद्वान् यह मानते हैं कि यह मानसिक सौंदर्य का साक्षात्कार एक स्वर्गमयी कल्पना के सदृश है, जिसमें संसार की जटिलताओं और कटुताओं, कठोरताओं तथा संघर्ष आदि से घबराकर मनुष्य शरण लेता है। जीवन के कठोर सत्यों का सामना न करके वह वहाँ से पीठ दिखाकर, पलायन पूर्वक, कल्पना के आनन्द-

---

१. भर्तृहरि का यह श्लोक प्रसिद्ध ही है--"साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।"

मय जगत् में अपने को आवृत्त कर लेता है। आनन्द के इस मानसिक साक्षात्कार की यह व्याख्या सर्वथैव ठीक नहीं। जीवन में अवकाश, विश्राम और मनोरमता का भी यथार्थ मूल्य है। इसके कारण मानसिक स्वास्थ्य ठीक होता है, मनोबल भी प्राप्त होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक यह सत्य स्थापित किया है कि मनुष्य के पास शक्ति का अतिरिक्त भंडार बहुत अधिक है। वह अपनी शारीरिक अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के अनन्तर इतना अवकाश और इतनी शक्ति पाता है कि वह शक्ति उस अवकाश का उपयोग ही कला के निर्माण के लिए करने लगती है। इसी अवकाश में मनुष्य को उस आनन्द की आवश्यकता प्रतीत होती है, जो ऐन्द्रिय आनन्द से ऊपर है, और जिसके दर्शन ही तब होते हैं जब मनुष्य किसी भी कारण और प्रकार से, कुछ अवकाश के क्षण प्राप्त कर लेता है। किन्तु इस मानसिक आनन्द का मनुष्य के आन्तरिक निर्माण से सम्बन्ध होता है, अतः यह आनन्द काव्य आदि के द्वारा उद्भूत होकर उसके जीवन के समस्त व्यापारों में व्याप्त हो जाता है, जिससे जीवन के संघर्षमय क्षणों में भी एक मनोरम भावना विद्यमान रहकर समस्त संघर्षों को न केवल सार्थक ही कर देती है उन्हें सह्य भी बना देती है।

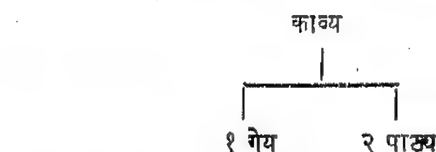
भारत के अतिरिक्त अन्य कोई देश ऐसा नहीं जिसमें 'रस' की दृष्टि से काव्य को ग्रहण किया गया हो। उन देशों में 'सौंदर्य' अथवा वाणी के 'चमत्कार' में ही काव्य की स्थिति स्वीकार की गयी है। 'सौंदर्य' में ही आनन्द की कल्पना करने वाले कवियों में ही कीट्स थे जिन्होंने उद्घोष किया कि A thing of beauty is a joy for ever—"सौंदर्य-युक्त वस्तु ही सतत आनन्द है" प्रायः समस्त रोमांटिक कवियों का यही दृष्टिकोण रहा है। इस सौंदर्य की व्यापक अनुभूति ने मानव को जीवन के प्रत्येक व्यापार-आचार में उसके दर्शन करने की प्रेरणा दी। तभी वर्ड्सवर्थ-जैसे रोमाण्टिक युग के प्रधान कवि की आलोचना करते हुए मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य की यह परिभाषा दी—

'Poetry is the Criticism of Life'

काव्य जीवन-अनुशीलन के अतिरिक्त और क्या है ? जीवन की आलोचना जीवन की अनुकृति से कुछ भिन्न है।

काव्य के भेद

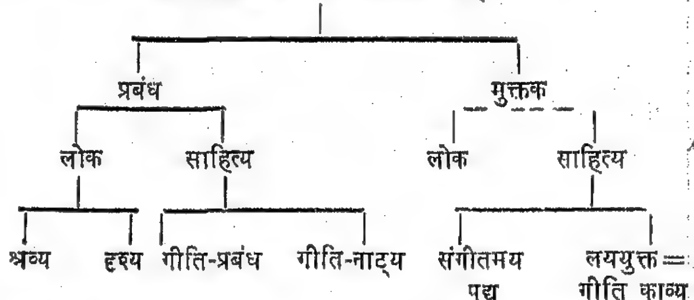
अब काव्य के भेदों पर विचार किया जा सकता है। पहले काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—



यह भेद काव्य की 'गति' के आधार पर निर्भर करता है।

गेय-काव्य में प्रधान-तत्त्व प्रगीतिता होती है। वह गाया जा सकता है, अथवा गाये जाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

गेय के निम्न भेद किये जा सकते हैं



'प्रबन्ध' के अर्थ हैं किसी कथा-सूत्र अथवा क्रमबद्ध वर्णन पर आश्रित रहना। 'गेय' शैली में ऐसी रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक लोक-गीतों से सम्बन्धित होती हैं। जिसमें गाँव के लोगों में दीर्घ परंपरा से प्रचलित कथा-गीत सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए 'ढोला', जिसमें नल-दमयन्ती और उनके पुत्र ढोला तथा उसकी वधू 'मारू' की लम्बी कहानी गायी जाती है। अथवा, आल्हा, जिसमें महोबा के चन्द्रवंशी राजा के वीर सेनापति आल्हा-ऊदल के शौर्य की रोचक कथाओं के गान हैं। ये दोनों बहुत विस्तृत प्रबन्ध-गीत हैं। ऐसे प्रबन्ध-गीत छोटे-छोटे भी होते हैं। ये प्रबन्ध-गीत श्रव्य होते हैं, किन्तु लोक-प्रचलित प्रबन्ध-गीत दृश्य भी होते हैं। श्रव्य-दृश्य का शास्त्रीय

भेद वस्तुतः अब लोक-गीतों में ही मिलता है । दृश्य-गीत नाटकों की भाँति लोक रंगमंच पर खेले जाते हैं—ये साधारण लोक-बोली में स्वाँग, भगत, नौटंकी आदि के नाम से विख्यात हैं, और इनमें भी कई शैलियाँ मिलती हैं ।

साहित्यक गेय प्रबन्ध काव्यों का प्रारम्भ वीरगाथा काल से ही मिलता है । नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' इसी गेय शैली में लिखा गया होगा । आगे चलकर भक्तियुग में 'भ्रमरगीत' को गेय-प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत ही रखा जायगा ।

पद तथा गीति काव्य

'मुक्तक' गेय रचनाओं में छोटे-छोटे मधुर भाव व्यक्त किये जाते हैं, जो अपने में पूर्ण होते हैं । इनमें भी हमें दो भेद मिलते हैं । स्फुट मुक्तक गीत तो गाँवों और लोक में बहुत प्रचलित हैं, प्रतिदिन गाँवों में ऐसे गीतों की गूँज सुनी जा सकती है । ये सामूहिक गान के लिए भी होते हैं और अकेले गाने के लिए भी । साहित्यिक गेय-मुक्तक या तो शास्त्रीय संगीत पद्धति पर निर्मित होते हैं—ये 'पद' कहलाते हैं, भक्ति-युग की समस्त पद-रचना इसी 'संगीतमय' शैली के अन्दर है । दूसरे वे हैं जो केवल गीत की लय के आधार पर निर्मित हैं, उन्हें बाद में भले ही किसी शास्त्रीय संगीत के ढाँचे में बिठा लिया जाय पर मूलतः तो कवि ने उन्हें केवल एक अपनी लय पर ही निर्मित किया है । ऐसी रचनाएँ 'गीति-काव्य' कहलाती हैं ।

'गीति-काव्य' में व्यक्तिगत भावनामय उद्गारों की प्रधानता होती है । कवि गीति-काव्य में अपने निजी भाव-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है । मधुरता और कोमलता गीति-काव्य के लिए आवश्यक होते हैं । कठोर और वस्तुगत बातें गीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं । यों तो भक्तियुग का समस्त पद-साहित्य भी गीति-काव्य की भावना से युक्त विदित होता है । जैसे महाकवि तुलसीदास जी ने गीतावली में परुष तथा कठोर स्थलों को यथा संभव स्थान नहीं दिया । उनकी 'विनय-पत्रिका' में तो यह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का तत्त्व और भी अधिक है । सूर की रचनाएँ भी ऐसी ही व्यक्तिमत्ता से युक्त हैं, कोमल सुकुमार भावों से परिपूर्ण हैं, और उनमें उनकी अपनी भक्ति-भाव-

संयुक्त अनुभूतियाँ भी हैं, पर ये सब गेय-साहित्य तो हैं, पर गीति-काव्य नहीं माने जायँगे। एक तो इनमें किंचित् कथात्मकता का तत्त्व इन्हें वस्तु-प्रधानता देने लगता है। दूसरे निजी उद्‌गारों में भी एक बँधा ढाँचा है, जो धार्मिक-नियमों से निबद्ध है, अतः मुक्त आत्मिक अनुभूति के लिए वह क्षेत्र नहीं रह जाता जो गीति-काव्य अथवा लीरिक के लिए आवश्यक है।

'गीति-काव्य' का हिन्दी में वास्तविक उदय आधुनिक युग में ही हुआ। इस युग में मुक्तक रचना की प्रबलता हुई, भावों की सुकुमारता, कल्पना की कोमलता से ये नई रचनाएँ परिपूर्ण हुईं, हृदय की निजी वेदनाएँ, और निजी सौन्दर्यानुभूतियाँ इनमें उतरीं। इन्हीं कारणों से आधुनिक युग में ही गीति-काव्य हिन्दी में प्रतिष्ठित हुआ। केवल दो कवियों की दो पंक्तियों की तुलना से यह भेद और अधिक स्पष्ट हो सकता है—

तू दयाल दीन हौं तू दानि हौं भिखारी

—विनय पत्रिका

यह तुलसीदास जी ने लिखा। आत्म-निवेदन इसमें है, अपनी दीनता और दुःख का उल्लेख भी है पर समस्त रचना में 'ब्रह्म' और 'जीव' की पारिभाषिक स्थिति है, तुलसी का अपना हृदय अपने निजी व्यक्तित्व के साथ इसमें कहाँ है ?

उधर 'महादेवी वर्मा' की इस पंक्ति को लीजिये—

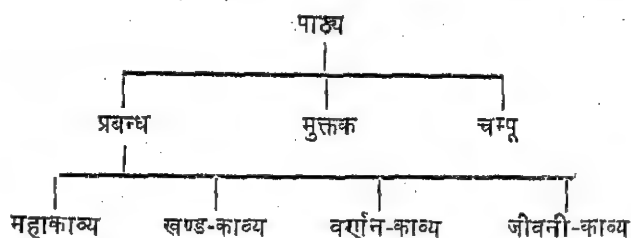
मैं नीर भरी दुख की बदली।
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

यह भावना शुद्ध वैयक्तिक है, कोई साम्प्रदायिक अथवा आध्यात्मिक भूमि इसके पीछे नहीं, व्यक्तिगत वेदना, और उसका व्यक्तिगत अनुभूति द्वारा सौन्दर्य दर्शन, सब-कुछ गीति-काव्य की वस्तु है।

पाठ्य काव्य

'पाठ्य' काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी जाती है, जो गेय से भिन्न शैली में केवल पाठ करने योग्य शैली में लिखा जाता है। पाठ्य काव्य में शैलीगत बन्धन अवश्य होता है, अतः इसमें लोकमेधा की स्वतन्त्रता को स्थान नहीं

रहता । पाठ्य विभाग के अन्तर्गत तो शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ ही आती हैं । इस पाठ्य के कई भेद होते हैं—



पाठ्य के अन्तर्गत भी सबसे पहला भेद 'प्रबन्ध' काव्य का ही होता है ।

प्रबन्ध-काव्य में किसी वस्तु का वर्णन होता है—वह वस्तु कथात्मक हो सकती है अथवा कोई दृश्य-मात्र ही हो सकता है ।

भारतीय आचार्यों ने इसके प्रायः दो ही प्रमुख भेद किये थे । हिन्दी में उन्होंने या तो 'महाकाव्य' लिखे या 'खण्डकाव्य' । आधुनिक युग में दो प्रकार की रचनाओं का और विकास हुआ है । इन्हें वर्णन-काव्य अथवा जीवनी-काव्य कह सकते हैं ।

'महाकाव्य' की परिभाषा यों दी जाती है—

सर्गबद्ध हो, किसी प्रसिद्ध कथानक पर निर्भर हो, महान् चरित्र उसमें समाविष्ट हों, संवाद यथोचित हों, दृश्य-नियोजन आवश्यकतानुरूप और विशद हो ।

तुलसीदास जी का 'रामचरित मानस' महाकाव्य है । वह काण्डों में विभाजित है । राम-कथा प्रसिद्ध कथा है । राम-सीता जैसे महान्-चरित्र इसके नायक हैं । जिन स्थलों का वर्णन हुआ है, विशद हुआ है । ऋतुओं का वर्णन, युद्ध-वर्णन, सभी विशद हैं, संवाद भी विलक्षण हैं । परशुराम-लक्ष्मण संवाद, तथा रावण-अंगद-संवाद तो विशेष उल्लेखनीय हैं । आधुनिक हिन्दी में महाकवि मैथिलीशरण गुप्त जी की कृति 'साकेत', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचना 'वैदेही वनवास' महाकाव्य ही हैं ।

'महाकाव्य' की एक नई शैली जयशंकरप्रसाद की 'कामायनी' में मिलती है, इसमें कांड अथवा सर्ग नहीं, प्रत्येक सर्ग किसी 'नाम' से अभिहित हुआ है,

जैसे 'चिन्ता', 'काम' आदि। कथा-विस्तार अथवा काव्य-सूत्र का प्रसार कवि के अपने शब्दों से नहीं होता, पात्रों-चरित्रों की निजी आत्माभिव्यक्ति के द्वारा होता है, इस विधि से इस रचना में प्रगीतिता का भी समावेश हो गया है। इस प्रगीतिता का उभार कहीं-कहीं इतना हो गया है कि कवि 'गीत' ही लिख गया है।

तुलसी के रामचरित को हमने महाकाव्य बताया है। किन्तु शास्त्र में दी गयी परिभाषा के अनुसार यह 'मानस' महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। अतः कुछ विद्वानों का विचार है कि इसे पुराणकाव्य कहा जाना चाहिये। पुराण-काव्य से अभिप्राय ऐसे प्रबन्ध काव्य से है जो पुराण-शैली पर लिखा गया हो। पुराण-शैली और महाकाव्य शैली में यों तो बहुत अन्तर है। किन्तु हिन्दी साहित्य में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। पुराण काव्य में शैलीगत तत्व को ही महत्त्व देना समीचीन नहीं उसमें वस्तुगत साधर्म्य भी होना चाहिये। महाकाव्य में 'शैलीगत' दृष्टि से यह वैशिष्ट्रीय होता है कि वह नाटक की भाँति बीज और फल से युक्ति होता है। प्रारम्भ में अन्त की सूचना और अन्त में आरम्भ का समावेश होता है। राम अयोध्या से चलकर अयोध्या ही लौट कर आये हैं। पुराण में सूत्र कथा-उपकथाओं में फूटता और फैलता चला जाता है।

जो भी हो, समीचीन यही प्रतीत होता है 'महाकाव्य' के अन्तर्गत सभी वृहत् प्रबन्ध काव्यों को रखा जाय।

यों यदि देखें तो महाकाव्य को हम और कुछ आगे भी विभाजित कर सकते हैं। *यथा*—

महाकाव्य

पुराण-काव्य	मसनवी शैली के काव्य	मनोभावाश्रित काव्य	रासोकाव्य	चरित्र काव्य	कथा काव्य हिन्दू (प्रेम गाथा)

'खण्ड-काव्य' महाकाव्य से लघु होता है। किसी बड़ी कथा का एक खण्ड अथवा अंश ही खण्डकाव्य की वस्तु बनता है। शेष बातें भी महाकाव्य-जैसी

होती हैं, पर इतना विस्तार नहीं होता। मैथिलीशरण गुप्त का 'नहुष' अथवा 'जयद्रथ वध' खण्डकाव्य है।

'वर्णन-काव्य' में कथावस्तु नहीं रहती। किसी स्थल, स्थान, वस्तु, प्राकृतिक दृश्य, का एक क्रमबद्ध विस्तृत वर्णन इन रचनाओं में रहता है। श्रीधर पाठक की रचना 'काश्मीर सुषमा' वर्णन काव्य है। इसी प्रकार रत्नाकरजी का 'गंगावतरण' वर्णन-काव्य कहा जायगा, इनमें कथा सूत्र बहुत दुर्बल हैं।

'जीवनी-काव्य' वे रचनाएँ हैं जिनमें घटनाओं और वर्णनों का शृङ्खलाबद्ध वर्णन होता है, घटनाएँ अथवा वर्णन एक ही नायक से सम्बद्ध रहती हैं। 'जीवनी-काव्य' में न तो महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य-जैसा वस्तु का संतुलन रहता है, न कथा-वैचित्र्य। गुप्तजी की कृति 'सिद्धराज' जीवनी-काव्य कहा जा सकता है।

मुक्तक रचनाओं की परिभाषा वही है जो 'गेय' विभाग में दी जा चुकी है। पाठ्य मुक्तक अपने अन्दर पूर्ण रचनाएँ होतीं हैं। एक भाव एक छन्द में पूर्ण व्यक्त होता है। उसके लिए पूर्वापर प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती है। हिन्दी के रीति-काल में ऐसी मुक्तक रचनाओं की परिपाटी विशेष प्रचलित थी। रहीम, बिहारी, वृन्द, आदि के दोहे, देव, भूषण आदि के कवित्त, गिरधर कविराय की कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं, इन छन्दों में एक-एक में ही कवियों ने पूर्ण भाव पूरी शक्ति और चमत्कार के साथ प्रस्तुत कर दिया है। बिहारी ने तो दोहों में तो अभूतपूर्व कमाल दिखाया है। उसके दोहों के विषय में कहा गया है—

सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

आधुनिक काल में हिन्दी में मुक्तक रचनाओं का तो प्राधान्य रहा है, पर वे प्रायः सभी गेय रही हैं।

किन्तु कुछ ऐसी रचनाएँ भी हुई हैं जिनमें स्वर का आरोह-अवरोह तो है, पर जो गेय नहीं। इनमें छन्द-निर्माण की शास्त्रीय परिपाटी का ध्यान नहीं रखा गया। शब्दों की सहज लय को अँग्रेजी 'सिलेबिल' के ढंग पर व्यवस्थित

करके काव्य में ओज और शक्ति प्रस्तुत की गयी है, ऐसी रचनाओं में तुकान्त-हीनता भी रहती है। ऐसी रचना का पूर्ण वैभव निरालाजी में प्रस्फुटित और विकसित हुआ है। ऐसी रचनाओं में कभी-कभी किंचित् कथा-सूत्र भी मिलता है। किन्तु 'कथा-वस्तु' कवि के लिए एक प्रधान वर्ण्य-वस्तु नहीं होती, वह तो केवल आकर्षण के लिए एक प्रेरणा का काम देती है। निराला जी की प्रसिद्ध रचना—

तोड़ती पत्थर थी
इलाबाद की सड़क पर

में 'पत्थर तोड़ना' यथार्थ में मात्र उद्दीपन है, और तोड़ने वाली मात्र अवलम्ब; इनके द्वारा करुणा और दुरवस्था की अभिव्यक्ति प्रधान है।

यदि 'मुक्तक काव्य' पद्य-शैली में न लिखा जाकर 'गद्य' में लिखा जाय तो उसे आजकल 'गद्य-काव्य' कहते हैं। यह एक नया रूप हिन्दी में उदय हुआ है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ तक काव्य के वर्गीकरण के दो आधार माने गये, एक शैली-सम्बन्धी, दूसरा 'वस्तु'-सम्बन्धी।

भारतीय आचार्यों ने अर्थ-सामर्थ्य के आधार पर भी काव्य के भेद किये हैं: वे काव्य को उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन कोटियों में विभाजित करते हैं।

मम्मट ने उत्तम काव्य उसे बताया है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो।

मध्यम काव्य में व्यङ्ग्यार्थ उतना चमत्कारक नहीं होता पर गुणीभूत व्यङ्ग्य अवश्य रहता है।

जिस रचना में केवल वाच्यार्थ में ही चमत्कार हो वह अधम रचना कही जाती है। यह ध्वनिवादियों की दृष्टि है, जो अभिधा-वादी हैं वे इसका उलटा कर देते है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने 'मुक्तक' के अतिरिक्त कुछ भेद और किये हैं। युग्मक दो छन्दों में पूर्ण होता है, सदानितक तीन छन्दों में, कलापक चार छन्दों में, कुलक पाँच में पूर्ण होता है।

काव्य के दोष की परम्परा

यहाँ तक काव्य के स्वरूप को समझने तथा उसके तत्त्वों को हृदयंगम करने की चेष्टा की गयी । काव्य के इन तत्त्वों के साथ काव्य के दोषों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा था—

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इसमें सबसे पहले काव्य के सम्बन्ध में 'अदोष' शब्द रखा है । काव्य को अदोष होना चाहिये । कुछ व्यक्ति 'दोष'-हीनता को 'सगुण' होना मानते हैं । पर ऐसा नहीं, 'गुण' एक वस्तु है, उस पर ऊपर विचार हो चुका है, दोष भी अपना अस्तित्व रखते हैं । कुशल कवि दोषों से बचने की चेष्टा करते हैं । इस दृष्टि से दोषों को जानना भी आवश्यक है ।

दोषों पर काव्य-शास्त्र की रचना के समय से ही आचार्यों ने विचार किया है । संस्कृत में भरत-मुनि ही काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं । उन्होंने काव्य में दस दोष माने हैं—अर्थहीन, एकार्थ, गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, विसन्धि, शब्द-च्युति (शब्द हीन), विषम, भिन्नार्थ, अभिप्लुतार्थ और न्याया-दपेत । 'अग्नि पुराण' के साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी भाग में केवल तीन दोष माने हैं : वक्तृ, वाचक और वाच्य । दण्डी ने दस और भामह ने ग्यारह माने हैं । दण्डी और भामह में दस दोष तो समान हैं एक भामह ने अधिक दिया है । इसकी भरत मुनि से दोषों के संबंध में इस प्रकार तुलना हो सकती है :

भरत	भामह तथा दण्डी
१. अर्थहीन	१. अपार्थ १० व्यर्थ
२. एकार्थ	२. एकार्थ
३. गूढ़ार्थ	३. ससंशय
४. अर्थान्तर	४. अपक्रम
५. विसन्धि	५. विसिन्ध
६. शब्दच्युति	६. शब्दहीन
७. विषम	७. भिन्नवृत्त ९ यति भ्रष्ट
८. भिन्नार्थ	८. असाय (ग्राम्य)

९. अभिप्लुतार्थ

१०. न्यायादपेत

इस तुलना से विदित होगा कि दण्डी ने प्रायः भरत के ८ दोष सम्मिलित किये हैं। व्यर्थ और यतिभ्रष्ट भरत के अन्य दो दोषों में समा सकते हैं। भामह ने दण्डी से अधिक 'प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त हानि' नामक दोष और बताया है। किन्तु यहाँ तक दोषों की विवेचना वैज्ञानिक प्रणाली पर नहीं थी। वामन ने इन सब दोषों को विधिवत् वर्गों में विभाजित कर दिया—उसने पद-दोष, वाक्य-दोष, पदार्थ-दोष और वाक्यार्थ-दोष नाम से दोषों के चार वर्ग बना दिये। मम्मट ने पद, वाक्य और अर्थ के दोषों की विवेचना करते हुए रस-दोषों का एक चौथा वर्ग और माना है। ध्वन्यालोक ने दोषों का उल्लेख दोष नाम से किया है, रस-वर्णन में औचित्य विचार पर जोर दिया है, अतः अनौचित्य दोष के अन्तर्गत माना जायगा। 'अनौचित्याद्दृते न्यायाद्रसभाङ्गस्य कारणम्'[1]—इस प्रकार जब दोषों का अनुसन्धान शुरू हुआ तो उनकी गिनती बढ़ती गयी। मम्मट ने ही १६ पद-दोष तथा १३ वाक्य-दोष माने हैं। आगे चलकर काव्य-दोष ७० से अधिक हो गये। पद-दोष १६, वाक्य-दोष ३१, अर्थ-दोष २३ और रस दोष १०। यहाँ पर इतने विस्तार और सूक्ष्मता से विचार नहीं किया जा सकता। यह तो दोषों की परम्परा और इतिहास है।

दोष की परिभाषा—

सभी आचार्यों ने यह माना है कि काव्य में दोषों का अभाव होना चाहिये। मम्मट की काव्य-परिभाषा प्रसिद्ध है 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि' जिसमें काव्य का 'अदोष' होना सबसे पहले आवश्यक बताया गया है। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के लिये निर्दोषता पर जोर दिया है। दोष क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। 'मुख्यार्थ हतिर्दोषो' जिसमें मुख्यार्थ अथवा उद्देश्य-प्रतीति का अपकर्ष हो, हानि हो, वही दोष है। फलतः काव्य के अर्थ को उज्ज्वल और स्पष्ट रखने के लिए दोष-ज्ञान आवश्यक है। दोष होने से काव्य अपना अर्थ भली प्रकार प्रकट नहीं कर सकता।

---

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ १४५

कुछ लोगों का विचार रहा कि गुणों की विपरीतता ही दोष है। दोष इस दृष्टि से अभावात्मक हो जाते हैं। पर यह स्पष्ट है कि 'दोष' अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं, केवल गुण के विपरीत नहीं हैं। किसी कवि ने दोषों के सम्बन्ध में कहा है :

"कहूं दोष है उचित कर, कहूं दोष गुण होइ।
कहूँ दोष नहिं गुण नहीं, ऐसी कै तू जोइ ॥"

जहाँ दोष औचित्य-पोषक हैं, अथवा जहाँ वे गुण हो जाते हैं, वहाँ उनके दोषत्व का परिहार हो जाता है, अतः दोषों के विवेचन में उनके प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। दोष गुणों की भाँति नित्य पदार्थ नहीं कि वे सब अवस्थाओं में विद्यमान रहें और एक से रहें। किन्तु दोष से बचना सरल नहीं, किसी न किसी प्रकार का दोष कहीं न कहीं काव्य में मिल ही जायगा। मम्मट 'अदोष' होना काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं, पर सर्वथा 'अदोष'—काव्य बहुधा सम्भव नहीं। और जब 'दोषों' को शास्त्रीय अर्थ में ग्रहण किया जाय, तब तो कैसे भी निस्तार नहीं होता। इस दृष्टि से दोष को केवल उसकी परिभाषा की दृष्टि के मूल-भाव से ही ग्रहण करना उचित है। यदि काव्य के अर्थ और सौन्दर्य में निरन्तर उत्कर्ष होता रहता है, किसी प्रकार का उनमें व्याघात पैदा नहीं होता तो वहाँ दोषान्वेषण के लिए व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं।

भेद—

दोष के अगणित भेदों की बात ऊपर हो चुकी है। उन सब पर विचार करना अनावश्यक है। वह तो भिखारीदास के काव्य-निर्णय से, संस्कृत के अन्य शास्त्र-ग्रन्थों से—उदाहरण के लिए मम्मट के काव्य-प्रकाश से अथवा विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण से पढ़ा और समझा जा सकता है। यहाँ तो कुछ प्रमुख दोषों पर विचार कर लेना ही पर्याप्त होगा।

दोषों को प्रधानतः चार भागों में ही बाँटना समीचीन होगा। एक—पद दोष, दूसरा—वाक्य-दोष, तीसरा—अर्थ-दोष, और चौथा—रस-दोष। यह स्वाभाविक और वैज्ञानिक वर्गीकरण माना जा सकता है। पहले दो दोष काव्य

के रूप से सम्बन्धित हैं। 'शब्द' अर्थ-ग्रहण के माध्यम की एक इकाई है। शब्द स्वयं रूप-मात्र है, और अकेला कोई अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकता। पर शब्द है ही और शब्द से वाक्य तक पहुँचते हैं। वाक्य अर्थ का माध्यम है, और अर्थ 'रस' का है।

पद-दोष वहाँ होता है जहाँ अनुचित और व्याघात करने वाले शब्दों का अथवा पदों का प्रयोग हो गया हो। पद-दोष में पहला है 'श्रुति कटुत्व'। शब्द से ही इसका लक्षण स्पष्ट है। जिस काव्य में कर्णकटु शब्दों का प्रयोग हुआ हो, उसमें कर्णकटु दोष अथवा श्रुति कटुत्व माना जायगा। श्रुति की कटुता तीन प्रकार से सम्भव है, एक तो कठोर अक्षरों के अथवा संयुक्त वर्णों के प्रयोग से, किंतु यदि इन अक्षरों का प्रयोग परुषावृत्ति के अनुकूल हो तो यह दोष वहाँ नहीं होगा। कारण स्पष्ट है : ऐसे स्थान पर कर्ण-कटुत्व अर्थ के बोध में साधक ही होता है। यथार्थ में हम ऐसे स्थल पर कर्ण-कटुता का आरोप ही नहीं कर सकते। दूसरे, वृत्ति के विरोध में कोई शब्द आ जाय। मधुर उपनागरिका वृत्ति का चरण हो उसमें परुषा-वृत्ति का वर्ण-विन्यास आ जाय तो भी वह श्रुति-कटु विदित होगा। जहाँ किसी शब्द के उच्चारण में भी कठिनाई हो वहाँ भी यह दोष रहता है।

'च्युत-संस्कार' दूसरा दोष है। व्याकरण के विरुद्ध किसी पद का प्रयोग हुआ हो तो वहाँ यही दोष माना जायगा। भाषा का 'संस्कार' व्याकरण से ही होता है। अतः व्याकरण-विरुद्ध पद का प्रयोग 'च्युत-संस्कार' कहलायगा। इसी को 'भाषाहीन' भी कह सकते हैं। उदाहरण के लिए कहीं 'स्थायी' भाव के लिए 'अस्थायी' शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह दोष हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि 'स्थायी' का व्रज रूप 'थायी' का ही अर्थ स्थायी है। अस-थायी तो अ-स्थायी का भ्रामक अर्थ प्रदान करेगा।

'भाषा-हीन' की परिभाषा हिन्दी-आचार्य यह करते हैं कि जहाँ बिना किसी नियम के ही मात्रा अथवा वर्ण अदल-बदल जायँ या घट-बढ़ जायँ, वहाँ यह दोष होता है, 'कृष्ण' के लिए 'कान्ह' के स्थान पर 'कान' का प्रयोग ऐसा ही दोष है।

तीसरा दोष 'अप्रयुक्त दोष' है। अप्रयुक्त दोष वहाँ होता है जहाँ अप्रचलित शब्द का प्रयोग कर दिया जाय। 'स्पर्श' का अर्थ कोष में 'दान' भी है, किन्तु इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता। फिर यदि इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया जाय तो यह दोष होगा। यदि चन्द्रग्रहण के दिन माँगने वाले 'दान करो, 'दान करो' की जगह 'स्पर्श करो, स्पर्श करो' कहें तो क्या परिणाम निकले।

इसी से मिलते-जुलते कुछ दोष और हैं, यथा 'असमर्थ' 'निहतार्थ' 'अप्रतीतार्थ', 'प्रसिद्ध त्याग' आदि; इनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। अप्रयुक्त तो जैसा शब्द से प्रकट होता है 'प्रयोग' के आधार पर है। जो शब्द-प्रयोग बाहर हो गया है उसे प्रयोग में लाना उचित नहीं होता। 'अतिथि' के लिए 'गोघ्न' अब अप्रयुक्त हो चुका है। इसका प्रयोग करना दोष होगा। 'असमर्थ' दोष शब्द की अपनी सामर्थ्य पर निर्भर है। कभी-कभी शब्द आवश्यक अर्थ देने में समर्थ नहीं होते। यहाँ प्रयोग का क्षेत्र नहीं, शब्द की सामर्थ्य देखी जाती है। किसी-किसी ने इसी को 'वाक्छल' बताया है और परिभाषा में कहा है कि जहाँ लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए भी मन दौड़े—जैसे 'मति राम हरी चुरियाँ खनकें।' पर इस वाक्य में 'समास' का दोष विशेष है, उतना सामर्थ्य का नहीं। निहतार्थ में शब्दों के ऐसे प्रयोग पर आपत्ति होती है जहाँ उसके कई अर्थ होते हों, पर प्रयोग उसका ऐसे अर्थ में हुआ हो जो प्रसिद्ध न हो। यहाँ पर आने वाला शब्द प्रयोग के बाहर नहीं हुआ, पर उसमें जो दूसरा अर्थ है, जिसके लिए उसका प्रयोग किया गया है वह अप्रसिद्ध है, उससे लोग कम परिचित हैं। उदाहरण के लिए शम्बर का अर्थ जल भी है और यह एक राक्षस का नाम भी है। यह शब्द 'असुर' के नाम के रूप में ही प्रसिद्ध है, जल के रूप में नहीं, किन्तु इसे जल के लिए काम में लाया जाय तो यह दोष होगा। अप्रयुक्त में तो वह अर्थ प्रयोग के बाहर हो चुका होता है, यहाँ उसका एक अर्थ तो प्रयोग में रहता है, दूसरा कम। इसी से मिलता हुआ 'अप्रतीतार्थ' है। लोक-व्यवहार में जो शब्द प्रयोग में नहीं आ रहा किन्तु उसका प्रयोग कर दिया जाय। यह अन्यत्र प्रचलित हो सकता है। जैसे विज्ञान, दर्शन अथवा

अन्यत्र कहीं यह पारिभाषिक अथवा विशेषार्थक शब्द हो सकता है, पर लोक-व्यवहार में प्रचलित नहीं। जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग होगा, वहाँ अर्थ की प्रतीति में बाधा होगी ही। यह दोष प्रयोग के सीमित और विशेष क्षेत्र के कारण होता है। उदाहरण के लिए 'आशय' शब्द 'मिथ्या ज्ञान' के अर्थ में केवल योग-शास्त्र में आता है; साधारण काव्य में यह दोष हो जायगा। 'प्रसिद्धि त्याग' में शब्द अपना प्रसिद्ध अर्थ त्याग देता है, तब प्रयोग में आता है। यह प्रसिद्धि सापेक्षिक होती है, और अन्य किसी शब्द के अर्थ से सम्बन्धित होती है। चिड़ियों के लिए चहकना उपयुक्त शब्द है, प्रसिद्ध है, कूजना मोरों के लिए उचित है, पर यदि चिड़िया के लिए 'कूजना' कह दिया जाय तो शब्द प्रसिद्ध अर्थ को त्याग कर प्रसङ्ग का अर्थ दे सकेंगे, ऐसे स्थल पर ही यह दोष होगा।

अश्लीलत्व भी एक प्रधान दोष है। यह तीन प्रकार का हो सकता है: १—व्रीड़ा व्यञ्जक, २—घृणा व्यञ्जक और ३—अमङ्गल व्यञ्जक। व्रीड़ा व्यञ्जक अश्लीलता ऐसे शब्दों के प्रयोग से होती है जिनसे लज्जा हो। उदाहरणार्थ कहीं बादलों के लिए 'जीमूत' शब्द का प्रयोग किया हो तो व्रीड़ा का भाव उदय होता है। 'घृणा व्यञ्जक' वहाँ होगा जहाँ घृणा होगी 'मिची आँख पिय की निरखि वायु दीन तत्काल' इसमें 'वायु' से अधोवायु का भाव झलकने से घृणा होती है। इसी प्रकार कहीं अमङ्गल सूचक शब्द आ जाय तो वहाँ अमङ्गल व्यञ्जक अश्लीलता होती है। हृतवृत्त भी ध्यान देने योग्य दोष है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ पिङ्गल आदि के नियमों का पालन होते हुए भी छन्द अथवा काव्य के पढ़ने में अथवा सुनने में कुछ खटक प्रतीत हो। यह दोष कभी-कभी कवियों को बहुत परेशान करता है, पिङ्गल की दृष्टि से इन्हें कोई दोष नहीं दीखता, किन्तु उन्हें उसके समुचित प्रवाह में अवरोध और कठिनता प्रतीत होती है।

अच्छे कवि को 'अधिक पद' का दोष भी बचाना चाहिये। जहाँ एक शब्द से ही पूर्ण अर्थ प्रतीत हो जाता हो वहाँ उसका अथवा उसके अंश क उल्लेख व्यर्थ है, और दोष है। कहीं पर 'पुष्प पराग' कहा जाय तो दोष होगा, क्योंकि 'पुष्प' शब्द अधिक है। पराग से ही उसका ज्ञान हो जाता है। अधिक पद दोष

के समान ही 'अपुष्ट' दोष होता है : इसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जाता है जिनके न होने से भी अर्थ में बाधा नहीं पड़ती। 'अधिक पद' में तो प्रायः वह पद अपने अर्थ के साथ किसी दूसरे पद में विद्यमान रहता है, अपनी अनिवार्यता के कारण, जैसे 'पराग' में 'पुष्प' का 'अर्जुन' में 'पाण्डव' का। किन्तु 'अपुष्ट' में वह इस प्रकार गर्भित नहीं होता, फिर भी अर्थ के लिए आवश्यक नहीं होता। "उदित विपुल नभ माहिं ससि अरी ! छोड़ अब मान।" मान छुड़ाने में चन्द्रमा ही सहायक है, 'विपुल नभ' व्यर्थ है। इसी प्रकार कहीं कोई आवश्यक पद छूट जाने से न्यून पद दोष हो जाता। "राजा तिहारे खड्ग ते, प्रगट भयो यश फूल।" खड्ग से फूल कैसे पैदा होगा, यश में फूल के रूपक के लिए खड्ग को लता मानना होगा। 'लता' के अभाव से दोष आ गया है। इसी प्रकार किसी शब्द की 'पुनरावृत्ति' भी काव्य में शैथिल्य पैदा करती है, "जो तिय मोमन लै गई, कहाँ गई वह तीय।" यहाँ 'तीय' की पुनरावृत्ति से कोई सौंदर्य नहीं बढ़ता अतः 'कथितपद' या पुनरुक्ति दोष है।

भग्न-प्रक्रम भी दोष है। इसे तीन प्रकार का माना जा सकता है : एक विधि अनुकूल प्रयोग न होना : विधि से जहाँ शब्द का एक रूप आना आवश्यक हो वहाँ दूसरा प्रयोग किया जाय—"जहाँ मीत तुअ बसत है ताही पै किन जात"। यहाँ 'जहाँ' के लिए नित्य सम्बन्धी 'तहाँ' का प्रयोग विधि अनुकूल होगा, स्थान का ही बोध यहाँ उचित है, अतः सर्वनाम 'ता' विधि प्रतिकूल है। 'वहाँ क्यों न तू जात' ऐसा चरण ठीक होगा। दूसरा जहाँ यथाक्रम वर्णन नहीं, वहाँ 'अक्रम' दोष भी कहा जाता है। तीसरे जहाँ 'समान वचन' नहीं—"तू हरि की अँखियाँ बसी, कान्ह बसे तुअ नैन" यहाँ 'अँखियाँ' के समान 'नैन' नहीं, या तो दोनों स्थानों पर 'नैन' होना चाहिये, या 'आँखें' ही; तभी अर्थ का सौंदर्य प्रतीत होगा।

इस प्रकार इस दोष-विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य में दोष से बचने में सचेत रहना चाहिये। दोषों की संख्या बँधी हुई नहीं हो सकती; जहाँ भी अर्थ-ग्रहण में शब्द के अनुचित अथवा जटिल, व्याकरण-विरुद्ध अथवा संदिग्ध वाक्य-रचना से, या अर्थ के उत्कर्षापकर्ष या विधि-विहितत्व से, अथवा 'रस' के यथार्थ परिपाक में बाधा या विरोध से काव्य और उसके सौंदर्य को

भली प्रकार हृदयङ्गम न किया जा सके वहाँ दोष होंगे और ये दोष अगणित हो सकते हैं।

उपसंहार

यहाँ तक काव्य के जिन तत्वों का विवेचन किया गया है या संक्षेप में परिचय दिया गया है, वे प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों दृष्टियों को प्रस्तुत करते हैं। शब्द और अर्थ के सभी पक्षों को काव्यानुशीलन के लिए समझना आवश्यक है। शब्दार्थ का लक्ष्य सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति का संप्रेषण होता है, काव्य का समस्त पुरुषार्थ यही होता है कि वह कवि की अनुभूतियों को यथार्थ रूप में संप्रेषित करे। काव्य के तत्वों के अनुशीलन से हमें इस बात की कुछ झलक मिल जाती है कि उन तत्वों की सीमा-सामर्थ्य क्या है और वे कब किस प्रकार से अनुभूति को ठीक-ठीक उतार सकते हैं।

तृतीय अध्याय

दृश्य काव्य : नाटक

दृश्य काव्य

काव्य के तत्वों का विवेचन प्रधानतः श्रव्य पक्ष के तत्वों से सम्बन्धित है, किंतु सामान्यतः काव्य के वे तत्व दृश्य काव्य पक्ष में भी मिलते हैं। दृश्यकाव्य को सामान्य भाषा में नाटक और शास्त्रीय भाषा में रूपक कहा जाता है। यह साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग है। इसमें काव्यत्व तो पूर्ण-रूपेण होता ही है, पर वह काव्यत्व 'दृश्य' के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इसी कारण इसमें और अधिक शक्ति और प्रभाव आ जाता है।

समस्त साहित्यिक अभिव्यक्तियों में नाटक का स्थान सर्वोपरि है। इसमें काव्यानन्द के साथ अन्य कलाओं का भी आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसमें जीवन का सम्पूर्ण और मूर्त रूप अवतीर्ण होता है। नाटक में लेखक का निजी व्यक्तित्व पृथक् उभरकर नहीं आता, वह नाटक के पात्रों में ही समाया रहता है। इस विशेषता के कारण साहित्य में नाटक विशेष सम्मान के भागी हो जाते हैं। पात्रों की वाणी भी स्वतन्त्र निजी उद्गार के रूप में नहीं होती। किसी

जीवन-कहानी की परिस्थितियों में आवश्यक रूप से प्रकट होने वाले वार्ता-सम्वाद के रूप में होती है। इससे नाटक जीवन का यथार्थ रूपक हो जाता है। संगीत, काव्य, कथोपकथन, नृत्य, अभिनय, दृश्य आदि से संयुक्त नाटक-साहित्य साहित्य का ऐसा अंग है जिसमें कर्ण और नेत्र-सम्बन्धी इन्द्रियों को आनन्द देने वाली समस्त कलाओं का अभिनिवेश रहता है। किन्तु नाटक का सबसे अधिक महत्त्व तो इसमें है कि वह जीवन की अनुकृति है। कवि के भाव श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य में मानसिक आकृतियों में ही कल्पना से मूर्त होते हैं। पर नाटक में तो नाटकीय पात्रों, उनके अभिनयों और दृश्य-संयोजनों से चर्म चक्षुओं के के लिए भी साकार हो उठते हैं। और सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि प्रत्येक भाव नाटकों में जीवन और उसकी कहानी से गुँथा हुआ रहता है। कवि की कल्पना का आदर्श भी नाटक के द्वारा यथार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है।

नाटक का जन्म और विकास

साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग के विकास का इतिहास भी रोचक है। भारत में तो नाटकों का जन्म संसार के अन्य सभी देशों से बहुत पहले हो चुका था।

विद्वानों ने, जिनमें प्रमुख पाश्चात्य विद्वान् ही हैं, वेदों के अध्ययन से यह अनुसंधान करने की चेष्टा की है कि वेदों में वे समस्त तत्त्व विद्यमान हैं, जिनके मिल जाने पर नाटक जन्म लेते हैं, नाटक के निर्माण के बीज ये हैं—

पाठ्य अर्थात् संवाद, गीत, अभिनय तथा रस।

नाटक क्या है ?

नाटक के सम्बन्ध में पाश्चात्य साहित्य में सबसे पहले अरस्तू ने विचार किया। आरिस्टाटल अथवा अरस्तू ने माना कि कला अनुकृति पर निर्भर करती है। उसने अनुकृति के लिए जो यूनानी शब्द लिखा है उसका अंग्रेजी पर्याय 'इमीटेशन' माना जाता है। अनुकृति का यह सिद्धान्त नाटकों के सम्बन्ध में अपने यहाँ भी मान्य था। धनंजय ने 'दशरूपक' में लिखा है कि अवस्था की अनुकृति को नाटक कहते हैं।[1] अनुकृति शब्द की अरस्तू ने व्याख्या नहीं दी फलतः आलोचकों में बड़ा विवाद खड़ा हुआ। अन्त में यह मान्य हुआ कि

१. अवस्थाऽनुकृति : नाट्यम्' (दशरूपक)

अनुकृति का अर्थ नकल करना नहीं, प्रकृति का अनुकरण करना है। दूसरे शब्दों में इस समस्त विवाद को इस मत का रूप दे देने से काम चल जायगा कि "नाटक एक प्रकार का वह संग्राहक शीशा है, जो प्रकाश की किरण को वृहद् करके और समेट तथा दबा करके उस प्रकाश को लपट में परिणत कर देता है।"

ब्रुनेटियर ने प्रतिपादित किया है कि नाटक में 'इच्छा' अथवा 'संकल्प' का प्रदर्शन मिलता है।

उपन्यास में इसका उलटा होता है। उपन्यास में हमसे बाहर का हम पर प्रभाव पड़ता है, उसका चित्र दिया जाता है।

सरसी का कहना है कि "नाटक वह है जो प्रेक्षकों के लिए लिखा जाय।" किन्तु प्रेक्षकों के लिए तो कथा भी हो सकती है। निकोल्ल ने इसमें संशोधन किया है—"बिना प्रेक्षकों के तथा बिना अभिनेताओं के, जो कि उसकी व्याख्या करते हैं, नाटक अकल्पनीय है।" इसी कारण नाटककार को जहाँ प्रेक्षकों का ध्यान रखना पड़ता हैं वहाँ अभिनेताओं की शक्ति और योग्यताओं का भी। वह एक पात्र को आदि से अन्त तक सब दृश्यों में अभिनय करता नहीं दिखा सकता। नाटक में जीवन-सम्बन्धी विचार अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। इनको प्रकट करने की प्रणाली में अप्रत्याशित का उपयोग प्रधान है, जिसकी आशा नहीं की जाती, ऐसी कोई घटना दैवात् अनायास ही उपस्थित होनी चाहिये और उससे भावों तथा विचारों को एक धक्का लगना चाहिये। यह अप्रत्याशिति सब नाटकों में मिलती है, इसलिए नाटकों में ऐसे स्थलों और स्थितियों का विचारपूर्वक नियोजन होना चाहिये, जो चाहे तो अद्भुत होने के कारण, अथवा बिलकुल नये होने के कारण, अथवा किसी अनोखी विशेषता के कारण या इसलिए ही कि वह मान्य परम्परा या रूढ़ि से एकदम भिन्न हैं, प्रेक्षकों को आश्चर्य-चकित कर दें, अवाक् कर दें और भावोत्तेजना से व्यग्र कर दें।

भारतीय नाटकों के तत्त्व

भारतीय परिपाटी के नाटकों पर दृष्टि डालते ही यह विदित हो जाता

है कि यहाँ के कलाकारों अथवा नाटककारों ने नाटक में दो बातें रखी हैं—एक तो नाटकीय वस्तु और दूसरी सूचक अथवा 'ज्ञापक' संयोजना । सूचक अथवा ज्ञापक संयोजना नाटकीय वस्तु से सम्बन्धित भी हो सकती है और ऐसी भी हो सकती है जिसका उससे सीधा कोई सम्बन्ध न हो । सूचक अथवा ज्ञापक इस संयोजना के ये दो अंग हैं : एक पूर्वरंग, दूसरा अर्थोपक्षेपक ।

भारतीय परिपाटी के अनुसार सूचक या ज्ञापक के रूप में 'प्रस्तावना' सबसे आरम्भ में आती है । इसके अङ्गों पर यहाँ विचार करते हैं ।

पूर्वरंग—पूर्वरंग में आरम्भसूचक नगाड़ा बजाना तथा वाद्यों का ठीक करना, सूत्रधार का ध्वजारोपण तथा पुष्प-वर्षा के उपरान्त नान्दी-कृत्य होता है ।

नान्दी—प्रत्येक नाटक मंगलाचरण से आरम्भ होता है । इस सम्बन्ध में किंचित् मतभेद है कि यह नान्दी-पाठ कौन करता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि नान्दी-पाठ सूत्रधार करता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि कोई पुरोहित यह पाठ करता है और इसके उपरान्त ही सूत्रधार अपना कार्य आरम्भ करता है ।

रङ्गद्वार—नान्दी के उपरान्त रंगद्वार आरम्भ होता है, जिसमें स्थापक आता है । स्थापक नाटकीय वस्तु के अनुरूप भूषा धारण किये होता है । यदि नाटक में देव-चरित्र हैं तो वह देवताओं का रूप धरकर आयगा, अन्यथा मनुष्य का ।

तब सूत्रधार कवि के नाम-गोत्र का परिचय देता है ।

यहाँ भारती वृत्ति के अनुसार प्ररोचना, बीथी, प्रहसन तथा आमुख होता है । वृत्ति के उक्त ये चारों प्रकार वे कौशल हैं जिनसे बातों-बातों में सूत्रधार या पारिपार्श्वक अथवा स्थापक नाटक की प्रकृत वस्तु की ओर ध्यान आकर्षित कराके, उसे आरम्भ करा देते हैं । आमुख अथवा प्रस्तावना के भी ५ भेद स्वीकार किये गये हैं ।

भरत-वाक्य

नाटक आरम्भ हो जाने के उपरांत उसकी मुख्य वस्तु अंकों के द्वारा विकसित होती है, तब अंत में 'भरत-वाक्य' नाटक की समाप्ति पर आता है ।

साधारणतः यह शब्द (भरत-वाक्य) समास-पद के रूप में मिलता है।

जिस प्रकार नान्दी के सम्बन्ध में मतभेद हैं उसी प्रकार 'भरत-वाक्य' के सम्बन्ध में भी हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि भरत-वाक्य नाटक का अंग नहीं, यह तो नटों की अपनी चीज है। नाटक समाप्त हो जाने पर नट, सूत्रधार आदि धन्यवाद या आशीर्वाद के रूप में जो वाक्य कहते थे वे 'भरत-वाक्य' कहलाये। भरत का अर्थ भी नट है। इस मत के रहते हुए भी यह देखा जाता है कि सभी नाटककार नान्दी भी स्वयं लिखते हैं, और भरत-वाक्य भी नाटक की समाप्ति की मंगल-याचना की भाँति नाटककार ही लिखते हैं। तभी एक नाटक की विविध स्थानों से मिलने वाली समस्त प्रतियों में एक-सा ही भरत-वाक्य मिलता है। यदि यह कार्य नट लोग करते तो अलग-अलग स्थानों में मिलने वाले नाटकों में अलग-अलग भरत-वाक्य मिलता।

आधुनिक युग में इस परिपाटी को भी त्याग दिया गया है। नाटकीय वस्तु की समाप्ति के साथ नाटक भी समाप्त हो जाता है।

अर्थोपक्षेपक

सूचक अथवा ज्ञापक संयोजना का दूसरा रूप है अर्थोपक्षेपक। मूल नाटक का विकास अंकों में ही रहता है अङ्कों में सभी प्रकार के दृश्य नहीं दिखाये जा सकते। नाटककार गिनती के कुछ अंकों में केवल चुने हुए स्थल ही प्रदर्शित कर सकता है। उपन्यासकार की भाँति वह कथा की छोटी-बड़ी सभी बातों को सूत्रबद्ध करके उपस्थित नहीं कर सकता। इस प्रणाली से ऐसी बहुत-सी बातें छूट जाती हैं जो दृश्य के योग्य तो नहीं होतीं पर नाटक की कथा के प्रवाह को अक्षुण्ण रखने के लिए अनिवार्य होती हैं। बहुत सी बातें अन्य कारणों से दृश्य के रूप में नहीं दिखलायी जा सकतीं, भले ही वे नाटक की कथा के तारतम्य के लिए अनुपेक्षणीय हों। ऐसी बातों को नाटककार कैसे उपस्थित करे? इसके लिए अर्थोपक्षेपकों की विधि का आश्रय लिया गया।

जो घटनाएँ या व्यापार अंक में प्रत्यक्ष दिखाये जा सकते हैं वे दृश्य-श्रव्य कही जाती हैं। जो नाटक के लिए अनावश्यक हैं, पर दृश्य-श्रव्य नहीं हो सकतीं उन्हें सूच्य बनाया गया। ऐसी घटनाओं की सूचना प्रेक्षकों को कथोपकथन मात्र की योजना से दे दी जाती हैं। मान लीजिये कि वध का दृश्य

वर्जित है। वह रंगमंच पर नहीं दिखाता जा सकता। उसे किसी स्थल पर दो व्यक्तियों के वार्तालाप द्वारा सूचित करा दिया जाता है।

ये सूचना देने वाले अर्थोपक्षेपक अथवा अंकच्छद पाँच प्रकार के होते हैं:— १. विष्कंभक, २. चूलिका, ३. अंकास्य अथवा अंकमुख, ४. अंकावतार, ५. प्रवेशक।

१. **विष्कंभक**—जब नाटककार आरम्भ में ही किसी ऐसी बात की सूचना देना चाहता है, जो हो चुकी है, या होने वाली है, जो भूतकाल अथवा भविष्य से सम्बन्ध रखती है तो वह अंक के आरम्भ में ही ऐसे दृश्य द्वारा भूत-भविष्य की घटनाओं की सूचना देता है। इसके पात्र मध्यम कोटि के होते हैं, अथवा निम्न श्रेणी के। पात्रों के इस भेद के कारण विष्कंभक के दो प्रकार माने जाते हैं—एक शुद्ध विष्कंभक, जिसमें एक या दो मध्यम पात्र आयें, दूसरा मिश्र अथवा संकीर्ण विष्कंभक, जिसमें नीच पात्र या नीच और मध्यम पात्र आयें। विष्कंभक में प्रधान-पात्रों को नहीं लाया जाता। शुद्ध में पात्र संस्कृत बोलते हैं, मिश्र में संस्कृत और प्राकृत।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में जिस रूप में इन भेदों का उल्लेख हुआ है, उस रूप में आधुनिक नाटककार इसका उपयोग नहीं कर पाता, पर इसके अर्थ यह नहीं हैं कि आधुनिक नाटककार के लिए ऐसी नाटकीय विधियों का कोई उपयोग ही नहीं। वस्तुतः नाटककार को हर अवस्था में कुछ-न-कुछ ऐसी बातों की सूचना दिलानी ही पड़ती है जिसका सम्बन्ध भूत अथवा भविष्य से होता है। आज पात्रों का भेद तो महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता, फिर भी जैसे 'गरुड़ध्वज' नाटक के आरम्भ में प्रहरियों की बातों के द्वारा पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने पूर्व के इतिहास का परिचय दिलाया है, वैसा परिचय दिलाना विष्कंभक ही कहलायगा और पात्रों के मिश्र होने के कारण यह मिश्र कोटि का विष्कंभक माना जायगा।

२. **प्रवेशक**—इसका कार्य विष्कंभक की भाँति ही भूत-भविष्य की घटनाओं की सूचना देने का है पर यह अंक के आरम्भ में नहीं आता। दो अंकों के बीच में इसका समावेश होता है। पात्र इसमें निम्न श्रेणी के होते हैं।

इसमें आने वाली उक्तियों में कोई उदात्तता नहीं होती। पात्र प्राकृत में बोलते हैं। शकुन्तला नाटक का 'सिपाही-मछुआ-संवाद' इसका एक उदाहरण है।

३. **चूलिका**—कभी-कभी नाटककार पात्र या पात्रों को रंगमंच पर सामने नहीं लाता। नेपथ्य में से ही कोई बात कहला देता है, इसी विधि से हमें आवश्यक सूचना मिल जाती है। इसी को चूलिका कहते हैं।

४. **अंकावतार**—जो अंक चल रहा है, उसी अंक का अवतार हो तो अंकावतार कहलायगा। इसमें जो अंक चल रहा है, उसके समाप्त होते ही पुनः उसी अङ्क के वही पात्र बाहर जाकर पुनः लौटते हैं और कर्म में प्रवृत्त होकर पूर्वकथा को आगे बढ़ाते हैं।

५. **अंकमुख अथवा अंकास्य**—इसमें किसी अङ्क के अंत में आगामी अङ्क के विषय की सूचना दी जाती है। इसके दो प्रकार के प्रयोग हो सकते हैं। एक तो इससे आगामी अङ्क के प्रमुख पात्रों का परिचय और उनका उद्देश्य प्रकट कराया जा सकता है। एक अङ्क समाप्त हो रहा है और उसी अङ्क का कोई पात्र दूसरे से कहे—"अरे, तुमने सुना है क्या ? आज वाल्मीकि के आश्रम में सीता को देखने जनक तथा वशिष्ठ आने वाले हैं।" और दूसरा अङ्क वाल्मीकि, जनक तथा वशिष्ठ से ही आरम्भ हो। अथवा दूसरा ऐसा ही कोई पात्र नाटक के आगामी कथानक का विवरण प्रस्तुत करे तो वह भी 'अङ्क मुख' या 'अंकास्य' कहा जायगा। यह प्रयोग आजकल सिनेमा फिल्मों में बहुधा मिलता है।

ये अर्थोपक्षेपक अभिनय की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखते। ये तो केवल 'सूचक' हैं।

नाटक की रचना-प्रणाली ही ऐसी है कि सभी देशों में नाटककारों को 'अर्थोपक्षेपक'-जैसी विधि का उपयोग करना पड़ता है। अंक में चुने हुए दृश्य ही दिखाये जा सकते हैं। उनकी परस्पर संगति बिना इस प्रकार की सूचनाएँ दिलाये नहीं बैठ सकती। बस इन अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग कलात्मक ढंग से होना चाहिये।

नाटकीय वस्तु—सूचक-ज्ञापक आदि के द्वारा हमें नाटकीय वस्तु की व्यवस्था में सहायता मिलती है। नाटक का मुख्य आधार तो उसका वह

कथानक है जो नाट्य-शास्त्र में 'वस्तु' कहलाता है। यह 'वस्तु' नाटक में दो प्रकार की मानी गयी है : आधिकारिक तथा प्रासंगिक।

आधिकारिक वस्तु—वह प्रधान कथानक है जो नाटककार की दृष्टि में यथार्थ 'वर्ण्य' है। इस आधिकारिक वस्तु का फल ही नाटक का प्रधान फल होता है, इसी का प्रधान पात्र नाटक का नायक होता है, उदाहरण के लिए 'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' नाटक में कुणीक अथवा अजातशत्रु सम्बन्धी वस्तु आधिकारिक वस्तु है।

प्रासंगिक वस्तु—वह कथांश होता है जो आधिकारिक वस्तु की किसी प्रकार की सहायता करने के लिए आधिकारिक वस्तु के साथ, कुछ स्वतन्त्र सत्ता भी रखता चलता है और प्रधान वस्तु से लिपटा रहता है। 'भवभूति' के 'मालती माधव' में मित्र 'मकरंद' की वस्तु प्रासंगिक है। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में 'विरुद्धक' का कथानक भी प्रासंगिक कहा जायगा।

यहाँ तक नाटक के रूप-निर्माण की बात हुई। अब वस्तु के आन्तरिक विधान को भी जानना चाहिये।

वस्तु का विधान

नाटकीय वस्तु के अन्तर में प्रधान तत्त्व 'व्यापार' होता है। दृश्यों के द्वारा किसी-न-किसी व्यापार को ही दिखाया जाता है। व्यापार में दो तत्त्व बहुत स्पष्ट हैं—एक कार्य अथवा व्यापार की अवस्थाएँ। नाटक का सूत्र किन-किन स्थितियों में होकर गया है, उसके विकास या वृद्धि की कौन-कौन सी अवस्थाएँ हैं, इन्हीं को नाटक की 'कार्यावस्थाएँ' कहते हैं। दूसरा तत्त्व है इन अवस्थाओं में व्याप्त अभिप्राय को प्रकट करने की विधि और साधन। ये 'अर्थप्रकृतियाँ' कहलाती हैं। एक तीसरा तत्त्व और है। ये कार्यावस्थाएँ तथा अर्थ-प्रकृतियाँ पृथक्-पृथक् सीमित स्थलों के रूप में आती हैं। ये माला के अलग-अलग मोती हैं। अब इन सबको एक सूत्र में नियोजित करने के लिए, इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा इनके अपने ही विभागों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा इनके अपने ही विभागों में परस्पर सन्धि बिठाने के लिए भी एक अलग तत्त्व होता है, जो संधि कहलाता है। इनका विवेचन क्रम से नीचे दिया जाता है।

अवस्थाएँ

नाटकों में कार्य के व्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं।

१. 'प्रारम्भ'—इसमें नाटक के कथानक का प्रारम्भ होता है। इसमें किसी फल के लिए इच्छा उत्पन्न होना दिखाया जाता है, जैसे मुद्राराक्षस नाटक में राक्षस को वश में करके चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को पुष्ट देखने की इच्छा। २. 'यत्न'—उस इच्छा की पूर्ति का यत्न किया जाता है, जैसे, चाणक्य का शकटदास कायस्थ से अज्ञातनामा पत्र लिखाना आदि। ३. 'प्राप्त्याशा'—फल-प्राप्ति की सम्भावना। इसमें विघ्नों के उठने और नष्ट होने की स्थिति प्रस्तुत करके फल-प्राप्ति की आशा दिखायी जाती है। राक्षस के साथ मलयकेतु की घनिष्ठता और चन्द्रगुप्त पर चढ़ाई का आयोजन विघ्न बन जाता है, किन्तु पत्र और पेटी मलयकेतु के समक्ष प्रेषित होने पर विघ्न शमन हो जाने से 'प्राप्त्याशा' शुरू हो जाती है। लेकिन वह आशा-मात्र रहती है। ४. 'नियताप्ति'—इस चौथी श्रेणी में प्राप्ति की सम्भावना-मात्र न रहकर निश्चितता आ जाती है। अपने मित्र चंदनदास के मित्र के प्राण देने का अभिनय देखकर राक्षस का अपना समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाना। ५. फलागम—फल की प्राप्ति—हमारे यहाँ के नाटक सुखान्त ही होते थे, इसलिए उनमें फल की प्राप्ति हो ही जाती थी। राक्षस का मंत्रित्व स्वीकार करना फल-प्राप्ति है।

यूरोपीय नाट्य-शास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं, वे इस प्रकार हैं—१. प्रतिपादन (एक्सपोजीशन), २. प्रारम्भिक संघर्ष (इनसिडेंट) : संघर्ष बाहरी-भीतरी दोनों प्रकार का हो सकता है। ३. कार्य का चरम की ओर अग्रसर होना (राइजिंग एक्शन)—इस अवस्था में संघर्ष या समस्या का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। ४. चरम (क्राइसिस)—इसमें संघर्ष पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच जाता है। संघर्ष सदा नहीं चलता रह सकता। जब यह ऐसे स्थल पर पहुँच जाय कि संघर्ष करने वाले दोनों पक्षों में से कोई भी एक उस संघर्ष को आगे झेलने में असमर्थ होने लगे।

क्राइसिस पर उसका फल इधर या उधर होने लगता है। दूसरे पक्ष का ह्रास होने लगता है और इसकी विजय की सम्भावना स्पष्ट हो जाती है।

इसको कार्य की ओर झुकाव या डिन्यूमां कहते हैं। इसके आगे अन्तिम अवस्था आती है जिसमें कार्य हो जाता है। यही अवस्था कैटैस्ट्रोफी कहलाती है। यही फल होता है। यह अच्छा भी हो सकता है, और बुरा भी।

अर्थ-प्रकृतियाँ

ये भी पाँच हैं—१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी और ५. कार्य। इनमें बीज तो आरम्भ नाम की अवस्था से मिलता है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है उसी प्रकार बीज में नाटक के फल की सम्भावना रहती है। बिन्दु विच्छिन्न कथा को अविच्छिन्न करता है। बीज में से कथा-सूत्र विकसित होकर आगे बढ़ते ही, मूल से अलग जाने लगता है, तभी 'बिन्दु' की अवतारणा होती है। बिन्दु कथा के आवश्यक विस्तार को रोक देता है, और कथा का सूत्र फिर जुड़ जाता है।

'पताका' नाटक का वह कथांश है जो मुख्य-वस्तु के नायक से अतिरिक्त दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करता हो पर मुख्य-कथा को प्रवाहित रखने में सहायक हो। इसकी कल्पना मुख्य-कथा के समान होती है।

'प्रकरी' में छोटी अवान्तर कथाएँ होती हैं, जो मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। और 'कार्य' वह अन्तिम कथांश है जिसमें फल की प्राप्ति होती है।

सन्धियाँ

सन्धियाँ भी संख्या में पाँच हैं—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. विमर्श या अवमर्श तथा ५. निर्वहण अथवा उपसंहार। प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ योग होने से जहाँ अनेक रसों और अर्थों के द्योतक बीज की उत्पत्ति होती है वहाँ मुखसन्धि होती है, प्रतिमुख में बीज अंकुरित होता हुआ दिखायी देता है। वह घटनाक्रम को आगे चलाती है। गर्भसन्धि अंकुरित बीज का विस्तार और भी अधिक दिखायी पड़ता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग होता है। अवमर्श में नियताप्ति और प्रकरी का योग रहता है और नयी बाधा उपस्थित होती है। निर्वहण सन्धि में कार्य और फलागम का योग होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है।

पात्र

नाटक की कथा-वस्तु का दिग्दर्शन पात्रों के द्वारा ही होता है, उपन्यासकार की भाँति रंगमंच के नियमों के कारण नाटककार को यह स्वच्छन्दता नहीं कि वह पात्रों के साथ अपनी टिप्पणियाँ देता हुआ कथा-व्यापार और अर्थ को एक विवरण में गूंथता चला जाय। समस्त नाटकीय वस्तु पात्रों के द्वारा उनके कथोपकथन और अभिनय से उद्घाटित होती है। रंगमंच की कला उसको कुछ सहायता भले ही कर दे, नाटककार स्वयं कहीं प्रकट नहीं हो सकता। अतः पात्र सभी देशों और कालों के नाटकों के प्रधान माध्यम हैं। इसी कारण नाटकों में पात्रों का चरित्र-चित्रण विशेष ध्यान आकर्षित करता है। नाटक मूलतः चरित्रों का ही अध्ययन है। कथा तो उसके चरित्रों के विशेष व्यवहारों और व्यापारों के लिए प्रसंग का कार्य करती है। उपन्यासों की ही भाँति नाटक भी दो प्रकार के हो सकते हैं—एक 'घटना-प्रधान', दूसरे 'चरित्र-प्रधान'। घटना-प्रधान नाटक में पात्रों को चमत्कार के कौतूहलपूर्ण व्यापारों में उलझा दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि पात्रों के चरित्र की अभिव्यक्ति उतनी नहीं हो पाती जितनी उनके साथ घटने वाली घटनाओं की। अभी पात्र किसी से लड़ रहा है, अभी आकाश में उड़ा जा रहा है, अभी जीवित चिता में जलना चाहता है, तो अभी लात मारकर जमीन में से पानी निकाल रहा है, अभी किसी जेलखाने में बन्द है। ऐसी उत्तेजक घटनाओं से घिरे हुए पात्र के चरित्र और व्यक्तित्व को हम उतना नहीं देख पाते जितना घटनाओं को देख पाते हैं।

यह होते हुए भी नाटक का माध्यम पात्र ही है। चरित्र-प्रधान नाटकों का ही विशेष आदर होता है। वही यथार्थ में नाटक की कला के केन्द्र हैं, वही नाटकीय कला के मूल अभिप्राय को सिद्ध करते हैं। तभी किसी ने यह कहा है कि 'चरित्र-चित्रण ही कला है।'

इस चरित्र-चित्रण की कला भारत में और अन्य देशों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर निर्भर करती है। भारत में 'चरित्र' का एक रूप ग्रहण कर लिया जाता है, और वह चरित्र विविध स्थितियों में किस प्रकार अपने उस चरित्र की रक्षा करता रहता है, और उसका वह चरित्रत्व किस प्रकार आरम्भ

में धुँधला, फिर कुछ उज्ज्वल और उज्ज्वलतर यहाँ तक कि उज्ज्वलतम हो उठता है, यह दिखाया जाता है। राम में जो गुण हैं वे आरम्भ से ही हैं, वे गुण धीरे-धीरे विविध स्थितियों और परिस्थितियों में होकर खिलते जाते हैं। गुणों में कोई वृद्धि और विकास या ह्रास नहीं होता, उन गुणों की आभा में वृद्धि और विकास होता है।

पाश्चात्य विद्वान् इसे चरित्र-चित्रण नहीं मानते। वे पात्र में संघर्ष उपस्थित करते हैं, वह कहीं उठता है, कहीं गिरता है और इस प्रकार उसमें परिवर्तन का अवकाश रहता है। वे इसीलिए भारतीय नाटकों पर यह आरोप लगाते हैं कि इनमें चरित्र-चित्रण नहीं मिलता। यह अन्तर मौलिक है। भारतीय नाटककार एक मनः-स्थिति के चरम उत्कर्ष को दिखाना अभीष्ट समझता है। हरिश्चन्द्र का 'सत्य' वचन, मन और कर्म का सामञ्जस्य रखता हुआ, कभी कहीं कठिन-से कठिन परीक्षा में विचलित नहीं होता। इससे भारतीय नाटककार 'रस' का परिपाक करता है। उसका उद्देश्य 'रस' की सृष्टि करना भी है। पर 'रस' के साथ वह जीवन में इस साधना को भी दृढ़ करना चाहता है जिससे जीवन का ध्येय सिद्ध होता है।

नाटक में एक ही पात्र नहीं होता, कई पात्र होते हैं। उनमें से कोई एक पात्र प्रधान हो जाता है। यह नायक या नेता कहलाता है।

नेता अथवा नायक में विनय, सौन्दर्य, माधुर्य, त्याग, कार्य-कुशलता अथवा दक्षता, मधुरभाषिता, लोकप्रियता, शुद्धता, भाषण-पटुता, उच्चकुल, स्थिर-चित्तता, युवावस्था, बुद्धि, साहस, स्मृति, कला, शौर्य, तेज, शास्त्रज्ञता आदि गुण होने चाहियें। किन्तु नाटक शास्त्र की दृष्टि से एक ही प्रकार का नायक नहीं हो सकता। उपरोक्त गुण किसी एक ही व्यक्ति में नहीं मिलते। इन गुणों के विविध धारण-कर्त्ता विविध नायकों की कोटि में रखे जाते हैं। भारतीय आचार्यों ने नायकों को चार प्रकार का माना है—

१—धीरोदात्त—यह नायक बड़ा उदारचरित होता है। इसमें शक्ति, क्षमा, दृढ़ता, आत्मगौरव, विनय तथा निरभिमानता रहती है। यह समस्त कोटि के नायकों में सर्वश्रेष्ठ गुणों से युक्त होता है। 'धीर' गुण को भारतीय आचार्यों ने नायक की कसौटी माना है। धीर का अर्थ ही चरित्र लिया गया है, यह

गुण जिस चरित्र में सबसे उत्कृष्ट अथवा उदात्त हो, वही धीरोदात्त होगा। राम और युधिष्ठिर इसके उदाहरण हैं।

२—धीरललित—यह नायक कोमल स्वभाव, सुखान्वेषी, कलाविद् और मस्त होता है। उदाहरण—दुष्यन्त।

३—धीरप्रशान्त—वह नायक जिसके चरित्र में प्रशान्तता हो—संतोष और धैर्य हो। शान्त स्वभाव, कोमल मन। जैसे 'मालती-माधव' में माधव।

४—धीरोद्धत नायक—इसके स्वभाव में उद्धतता होती है। यह मायावी, आत्म-प्रशंसा-परायण तथा स्वभाव से प्रचण्ड और चपल होता है। उदाहरणार्थ—मेघनाद।

नायकों का एक भेद अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ इन चार प्रकारों में पुरुष व पत्नी के प्रति आचरण के आधार पर किया गया है। यह शृङ्गार रस के नाटकों में ही मिलता है।

नायक का प्रतिपक्षी 'प्रतिनायक' कहलाता है। इसे सदा धीरोद्धत चित्रित किया जाता है।

प्रासंगिक वस्तु का नायक 'पीठमर्द' कहलाता है।

विदूषक—इस नाम का एक विशेष पात्र संस्कृत और संस्कृत-प्रणाली पर लिखे गये हिन्दी-नाटकों में मिलता है, कहीं-कहीं यों भी इसकी अवतारणा हिन्दी-नाटकों में हुई है। यह हँसोड़ होता है, संस्कृत-नाटकों में इसे ब्राह्मण जाति का और प्रधान नायक का अत्यन्त विश्वासी अन्तरंग मित्र माना गया है। इसमें पेटूपन का गुण विशेष मिलता है। प्रसाद जी के स्कंदगुप्त का मुद्गल विदूषक ही विदित होता है।

नायिका—नायक की भाँति ही स्त्री-पात्रों में भी प्रधान पात्र होते हैं ये 'नायिका' कहलाते हैं। भारतीय शास्त्र में नायिकाओं के अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं। इनके वर्गीकरण के कई आधार माने गये हैं—एक अवस्था-भेद के आधार पर, दूसरा पतिव्रत पर, तीसरा काम-शास्त्र-वर्णित प्रकृति पर, चौथा संयोग-वियोग पर, पाँचवाँ निवेदन के प्रकार पर—आदि आदि, और भी कितने ही आधार हैं। इस प्रकार भारतीय शास्त्रियों ने विविध दृष्टियों से

स्त्री-पात्रों का अध्ययन किया और नाटक तथा काव्य-रचना के लिए उनके लक्षण निर्धारित किये।

अभिनय—नाटककार पात्रों के द्वारा नाटक प्रस्तुत करता है। किन्तु 'पात्र' के अर्थ नाटक में विशेष होते हैं। पात्र दृश्य में आता है वह विविध व्यापार अपने शरीर के द्वारा करता है, और कथोपकथन में प्रवृत्त होता है। अतः उसे दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। शरीर की चेष्टाएँ, और वार्तालाप। यों दोनों ही अभिनय माने जा सकते हैं। 'अभिनय' नाटक का प्रधान तत्त्व है।

भरत मुनि ने चार प्रकार के अभिनय माने हैं: एक आंगिक, दूसरा वाचिक, तीसरा आहार्य, चौथा सात्विक। नाट्य-शास्त्र में अभिनय को 'नाट्य' नाम दिया गया है।

आंगिक अभिनय शरीर के विविध अंग-प्रत्यंगों के द्वारा होता है। इसके लिए शिर, हस्त, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर ये छः प्रधान साधन माने जाते हैं।[1]

आंगिक अभिनय के भी तीन प्रकार हैं—शारीरिक, मुखज, तथा चेष्टाकृत। शारीरिक अभिनय में कर, कटि, वक्ष, पार्श्व आदि से प्रकट किये जाने वाले हाव-भाव आयेंगे। इनका विशेष उपयोग 'नृत्त' में होता है।[2] नाट्य-शास्त्र में 'नृत्त' और 'नृत्य' में भेद किया है। नृत्त दो प्रकार के माने गये हैं—एक तांडव, दूसरा लास्य।

मुखज अभिनय का सम्बन्ध मुख से है। मुख से नाना भावों की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। नेत्रों की दृष्टि ही अलग-अलग रस के भावों को प्रकट करने के लिए अलग-अलग होती है। क्रोध की दृष्टि और शोक की दृष्टि में कितना भेद है। इसी प्रकार अन्य भावों की अभिव्यक्ति विशेष दृष्टि से ही होती है। भरत-मुनि ने मुखज अभिनय को ही नहीं, अन्य अभिनयों को भी रसमय भावों के व्यक्त करने का साधन माना है।

---

१. शिरो हस्तकटी वक्षःपार्श्वपादसमन्वितः।
अंग प्रत्यंग संयुक्तः षडंगो नाट्य-संग्रहः॥ (नाट्य-शास्त्र)

२. आंगिकस्तु भवेच्छाला अंकुरः सूचना भवेत्।
अंगहारविनिष्पन्नं नृत्तं तु करणाश्रयम्॥

शारीरिक और मुखज अभिनय के अतिरिक्त जो विविध व्यापार और चेष्टाएँ रह जाती हैं, वे चेष्टाकृत अभिनय कहलाती है।

आङ्गिक अभिनय में शरीर और उसके अवयवों के द्वारा होने की कोई भी क्रिया सम्मिलित होती है। रंगमंच पर पात्रों की प्रत्येक शारीरिक क्रिया आंगिक अभिनय कहलायगी। दोनों नाटकों में प्रत्येक अभिनय के साथ वाणी का साथ रहता है, किन्तु ऐसे भी अवसर नाटकों में प्रस्तुत होते हैं जहाँ मूक अभिनय ही अपेक्षित होता है। नई शैली के नाटकों में तो ऐसे मूक अभिनयों का बहुत अर्थपूर्ण प्रयोग होने लगा है। इन मूक अभिनयों के कई प्रकार हो गये हैं। एक तो मूक अभिनय 'टेब्ला' अथवा 'स्तम्भित दृश्य' के रूप में होता है। यह प्रायः किसी दृश्य के अन्त में होता है। एक विशेष उद्वेगमय अभिनय मुद्रा को कुछ क्षण के लिए स्थिर कर देते हैं, और उसी स्थिर-मुद्रा पर पर्दा डाल दिया जाता है। कभी मूक अभिनय चलते हुए छाया-चित्र के रूप में दिया जाता है। 'पूर्व की ओर' नाटक में प्रथम अङ्क के दूसरे दृश्य में वृन्दावनलाल वर्मा का यह निर्देश देखिये—"बौद्ध विहार में नित्य नियम के अनुसार धार्मिक कार्य हो रहा है। जो बाहर से दिखलायी नहीं पड़ता है। (छायाभिनय द्वारा प्रकट किया जाता है)।" यह छायाभिनय 'मूक अभिनय' ही है।

कभी-कभी इस मूक-अभिनय का प्रतीक-प्रणाली से प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—प्रसाद जी के 'अजातशत्रु' में बिम्बसार का अन्तिम दृश्य में लड़खड़ाना।

वाचिक—वाचिक नाट्य अथवा अभिनय वाणी द्वारा नाटकीय अभिव्यक्ति को कहते हैं। इस नाटकीय वाणी-विलास के कई रूप हो सकते हैं—

१. कथोपकथन—दो या अधिक पात्रों का परस्पर वार्तालाप—

२. स्वगत-कथन—एक-मात्र अकेला ही अपने भावों को बोलकर प्रकट करे। इसे अस्वाभाविक समझा जाता है। बहुत-से यथार्थवादी नाटककार इसका उपयोग नहीं करते, पर इससे बिलकुल बचना सम्भव नहीं दिखायी पड़ता।

३. आकाश-भाषित—कोई आकाशवाणी के रूप में कुछ कहे।

४. नेपथ्य-कथन—पर्दे के पीछे नेपथ्य से कोई बात कहना।

५. संगीत—गायन।

इस अभिनय के लिए भरत मुनि ने स्वर-शास्त्र, व्याकरण तथा छन्द-शास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक माना है। आजकल कथोपकथन (Dialogue) को प्रधान तत्त्व माना जाता है। वह वाचिक अभिनय का ही अङ्ग है।

आहार्य नाट्य—का सम्बन्ध वेष-भूषा से हैं। नाटक को रूपक कहा ही इसलिए गया है कि इसमें रूप का आरोप किया जाता है। जैसा पात्र है, उसकी वैसी ही वेश-भूषा होनी चाहिये। ऐतिहासिक नाटकों में तो इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि जिस काल के पात्र हैं उनकी वेश-भूषा उसी काल की हो।

चौथा प्रकार अभिनय का 'सात्विक' नाट्य है।

आंगिक, वाचिक और आहार्य के अन्तर्गत वह अभिनय नहीं आता, जो स्वाभाविक मनोवेगों की सहज अवस्था को प्रकट करता है, जिसमें शरीर को किसी अभिलषित मुद्रा में नहीं ढाला जाता, वरन् जिसके द्वारा सात्विक भाव ही प्रकट होते हैं। हँसना, रोना, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि भावों का नाट्य सात्विक अभिनय कहा जाता है।

इन अभिनयों का सीधा सम्बन्ध अभिनेताओं तथा नटों से ही है। किन्तु आलोचना-शास्त्र को इन पर विचार करना होता है। क्योंकि नाटककार जब नाटक की अवतारणा करता है तो उसकी मनोदृष्टि में भी अपनी सृष्टि के पात्रों का पूर्ण अभिनयात्मक रूप प्रस्तुत होता है, अतः नाटककार की कला को समझने के लिए अभिनय के भेदों को समझना आवश्यक हो जाता है।

संकलनत्रय—यूनान के आचार्यों ने संकलनत्रय को विशेष गौरव दिया है। आधुनिक युग में भी इनकी पूरी उपेक्षा नहीं हो पायी। इनका बहुत-कुछ सम्बन्ध यूनानी रंगमंच की अपनी विशेषता से भी है। यूनानी रंगमंच पर पर्दे का उपयोग न होने के कारण रंगमंच का एक ही स्थल आरम्भ से अन्त तक प्रेक्षकों के सम्मुख रहता था। दृश्यों का परिवर्तन सामूहिक गान अथवा कोरस के द्वारा सूचित किया जाता था। ऐसे स्थल को दृष्टि में रखकर, नाटक को अस्वाभाविक विद्रूपता से बचाने के लिए, स्थल की एकता 'यूनिटी ऑव प्लेस' को नियम के रूप में ग्रहण किया गया होगा। एक दृश्य आगरा का है तो दूसरा

कलकत्ता का–यह स्थलान्तर दिखाना इस नियम से अनुचित है। दूसरी बात यह थी कि जो घटना नाटक में दिखायी जाय, वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता हो । उसको वे समय की एकता 'यूनिटी आव टाइम' कहते थे । 'समय की एकता' के नियम का अर्थ यह है कि नाटकीय घटना में जितना समय लगे उतना ही उस घटना का वास्तविक समय भी हो । डॉ० रामकुमार वर्मा का 'दस मिनट' एकांकी 'दस मिनट' में ही समाप्त हो ले तो उसमें 'समय की एकता' का आदर्श मिल जायगा ।

तीसरी 'कार्य की एकता' है । नाटकीय कार्य एक हो, उपन्यासों की भाँति नाटक में विविध वृत्तों को स्थान नहीं मिल सकता ।

किसी आदर्श नाटक में ये तीनों इकाइयाँ अथवा संकलनत्रय मिलने चाहिये पर आधुनिक युग से पूर्व ऐसा सम्भव नहीं हुआ था । इन इकाइयों का पालन नहीं किया जा सका । अब एकांकी नाटकों की उद्‌भावना से इन इकाइयों का पालन भी सम्भव हो सका है ।

संकलनत्रय के सिद्धान्त, उनके अर्थ और प्रयोग में मत की विविधता रही तब आधुनिक युग में एक नई एकता की उद्‌भावना की गयी । यह है प्रभाव की एकता, 'यूनिटी ऑव इम्प्रेशन' । नाटक में स्थान और स्थल की एकता का सिद्धान्त रूप में विरोध हुआ, और प्रयोग में भी । यही दशा समय की एकता और व्यापार की एकता की है । शेक्सपियर का उल्लेख हो चुका है उसने इनमें से किसी का भी पालन नहीं किया, फिर भी वह नाटककारों में शिरोमणि माना जाता है । वास्तव में नाटक में अन्य कोई एकता हो या न हो प्रभाव की एकता अवश्य होनी चाहिये । इस एकता के सबसे प्रबल समर्थक सरसी हैं— उनका कथन है ।

"प्रबल तथा स्थायी होने के लिए 'प्रभाव' को अकेला होना चाहिये । यह बात सभी नाटककारों ने स्वभावतः ही अनुभव कर ली है;'''यह प्रतीत होता है कि नाटककार कवियों ने यह अनुभव किया है कि प्रेक्षकों की आत्मा के अन्तराल को ध्वनित करने के लिए, उनके सदा उसी स्थल को स्पर्श करना चाहिये; जितना ही प्रभाव घनिष्ठतः एक होगा उतना ही वह बलवत्तर तथा स्थायी होगा ।

अभिप्राय यह है कि एक ही भाव की प्रधानता होनी चाहिये। उस भाव से भिन्न भाव यदि कहीं आयंगे भी तो वे गौण होकर, अस्थायी रूप में आयेंगे, ऐसा नहीं होगा तो प्रभाव की एकता में विघ्न पड़ जायगा, और नाटक असफल हो जायगा। इस प्रभाव की एकता का यह अर्थ नहीं है कि एकरसता आ जाय, एक ही भाव आदि से अन्त तक बना रहे, विविध भाव आ सकते हैं, पर मिलकर उनका जो प्रभाव पैदा हो वह अवश्य एक होना चाहिये, अन्य भाव प्रधान भाव के सहायक होने चाहियें, उसके विरोधी अथवा प्रतियोगी नहीं। यह बात उपन्यासों में नहीं होती, उसमें अन्य गौण तथा ऐसे भाव जो मुख्य कथा-धारा के लिए बाहर के हैं, काफी विस्तार के साथ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस तथ्य का उल्लेख अंग्रेजी विद्वान् अल्लार्डिस निकोल्ल ने भी किया है। वह कहता है :

"आधुनिक आलोचकों में जो प्रभाव के सम्बन्ध में आग्रह है, वह संस्कृत नाटक के प्राचीन लेखकों में पहले से ही पाया जाता है उनके अनुसार आठ प्रमुख रस अथवा प्रभाव होते थे जो दृश्यकाव्य द्वारा उत्पन्न हो सकते थे।"

दृश्यकाव्य को भरत नाट्यशास्त्र में 'रूपक' कहा गया है। 'रूपक' का आधुनिक काल में एक अत्यन्त सामान्य अर्थ हो गया है। और यह अंग्रेजी शब्द 'फीचर' का पर्याय हो चला है। रूपक का परिभाषिक अर्थ आजकल 'नाटक' होता।

नाटक अथवा रूपकों के भेदोपभेद

हमारे यहाँ रूपकों का विस्तार बहुत बड़ा है। रूपक दस प्रकार के माने गये हैं।

१. **नाटक**—यह रूपकों में मुख्य है।

इसकी वस्तु में पाँच सन्धियाँ, चार वृत्तियाँ, चौंसठ सन्ध्यङ्ग माने गये हैं। इसमें पाँच से दस तक अंक होने चाहियें, इसका विषय ख्यात वृत्त वाला हो। इसका नायक धीरोदात्त तथा प्रतापी होना चाहिये। वह राजा हो, राजर्षि हो अथवा कोई अवतारी पुरुष हो। इसमें शृङ्गार, वीर अथवा करुण रस की प्रधानता रहती है।

उदाहरण—शकुन्तला।

आजकल का 'नाटक' इस संकुचित अर्थ वाला नहीं होता।

२. **प्रकरण**—इसका विषय कल्पित होता है, शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है। इसका नायक कोई मन्त्री, धनी या ब्राह्मण होता है, शेष बातें नाटक के समान होती हैं।

उदाहरण—मालतीमाधव, मृच्छकटिक।

३. **भाण**—यह एक ही अंक का होता है। इसमें एक ही पात्र होता है, जो 'आकाशभाषित' के ढंग से स्वयं ही प्रश्नोत्तर के रूप में किसी कल्पित पात्र से बातचीत करता है। इसमें धूर्तों का चरित्र रहता है और खूब हँसाया जाता है।

उदाहरण—भारतेन्दु-कृत 'विषस्य विषमौषधम्'।

४. **व्यायोग**—इसमें एक ही अंक होता है। कथावस्तु ख्यात होती है। एक ही दिन का वृत्त होता है। स्त्री-पात्रों का अभाव-सा रहता है; वीर-रस प्रधान होता है; मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं।

उदाहरण—भारतेन्दु-कृत 'धनञ्जय-विजय'। संस्कृत में 'सौगन्धिका-हरण'।

५. **समवकार**—इसमें बारह तक देव या असुर नायक हो सकते हैं। इसमें देव या दानवों की कथा रहती है। केवल तीन अंक होते हैं। विमर्श सन्धि और विन्दु नाम की अर्थ प्रकृति नहीं होती। इसमें युद्ध दिखाये जाते हैं। वीर रस प्रधान होता है।

उदाहरण—नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित 'अमृत-'मंथन'।

६. **डिम**—कथा पौराणिक अथवा ऐतिहासिक, चार अंक, धीरउद्धत नायक तथा रौद्र रस का प्राधान्य रहता है। जादू तथा मायाजाल रहता है। इसमें शृङ्गार और हास्य छोड़कर शेष सब रस हो सकते हैं। विमर्श-सन्धि नहीं होती।

उदाहरण—संस्कृत में 'त्रिपुर-दाह'।

७. **ईहामृग**—इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक होता है। नायक किसी दिव्य कुमारी की स्पृहा करता है। वह उसे नहीं चाहती। मिलन

तो नहीं होता किन्तु किसी का मरण भी नहीं होता। इसमें चार अंक होते हैं। मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण ये तीन सन्धियाँ होती हैं।

८. **अंक**—इसमें एक अंक होता है। यह करुण-रस-प्रधान होता है। इसका नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध किन्तु कल्पना से विस्तृत किया होता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ ही होती हैं।

उदाहरण—'शर्मिष्ठा ययाति'।

९. **वीथी**—एक अंक होता है। इसका विषय कल्पित होता है। इसमें श्रृङ्गार और वीर रस के वर्णन रहते हैं। पात्र एक या दो। आकाश-भाषित का उपयोग होता है।

उदाहरण—'लीला-मधुकर।'

१०. **प्रहसन**—भाण के समान होता है, हास्य रस की प्रधानता रहती है। इसमें एक ही अंक होता है और मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। विष्कम्भक तथा प्रवेशक नहीं आते।

उदाहरण—'अंधेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'।

उपरूपकों के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणक, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

आजकल हिन्दी-नाटकों में इन भेदों का कोई उपयोग नहीं होता। आज-कल के नाटकों में प्रायः विषय का भेद रहता है। शैली के के भेद से कुछ भेद अवश्य कर दिये जाते हैं—जैसे एकांकी, रेडियो प्ले, मोनोड्रामा, लिरिकल ड्रामा (संगीतिका), फैंटैसी, आदि।

ट्रेजेडी-कामेडी

यूरोप में नाटकों के पहले दो बड़े भेद किये गये। ट्रेजेडी (दुःखान्त नाटक) कामेडी (सुखान्त नाटक)। ट्रेजेडी में दुर्भाग्य तथा दुःख और विषाद का प्रदर्शन होता था, इसके लिए महान् चरित्रों का उपयोग किया जाता है। कामेडी में हास्य-प्रमोद का चित्रण होता है, जिसमें निम्न श्रेणी के पात्रों का उपयोग किया जाता है। पात्रों का पद विशेष महत्त्व का नहीं। मध्यकाल के आलोचक यह मानने लगे थे कि जिस नाटक में राजा-महाराजाओं को पात्र

बनाया गया है, वह प्रभाव में कैसा ही हो वह ट्रेजेडी कहलायगा। इसी प्रकार किसी कामेडी का प्रभाव भले ही दुःखपूर्ण हो, यदि उस नाटक के पात्र निम्न श्रेणी के हैं तो वह कामेडी है। पर यह भूल थी। ट्रेजेडी में पात्र किसी भी प्रकार के हों परन्तु वे ऐसे अवश्य होने चाहियें कि हमारी संवेदना और सहानुभूति को अपनी ओर आकृष्ट कर लें, और समस्त नाटक का प्रभाव भी विषादमय हो। कामेडी में प्रभाव हल्का उमंगमय होता है। इसमें किसी गम्भीर समस्या का समावेश नहीं होता। ट्रेजेडी गम्भीर और मर्मस्पर्शी होती है, इसीलिए नाटकों में उसका मूल्य सबसे अधिक माना गया है। बाद में एक तीसरे रूप की भी उद्भावना हुई, यह ट्रेजी-कामेडी कहलाया। दोनों उपर्युक्त प्रकारों के मेल से इसका निर्माण हुआ है। ट्रेजी-कामेडी वह नाटक है, जिसमें आरम्भ से अंत तक अधिकांशतः ट्रेजेडी की भाँति हमारे मर्म को स्पर्श करने वाले गम्भीर तत्त्व उपस्थित हों, जो दुःख में सहानुभूति को उद्वेलित कर सकें, पर अन्त जिनका सुखकर हो। ट्रेजेडी में अंत में विफलता और निराशा दिखायी पड़ती थी, इसमें ट्रेजेडी के जैसा होते हुए भी परिणाम में सफलता और आनन्द दिखाया जाता है।

ट्रेजेडी में जब आन्तरिक स्पंदन नहीं रहता, उसकी हृदय को छूने वाली शक्ति का ह्रास हो जाता है, और घटनाओं में अतिनाट्य को आदर मिलने लगता है तो वह मैलोड्रामा कहलाता है। इसे ट्रेजेडी का कंकाल समझना चाहिये।

इसी प्रकार कामेडी का उच्च धरातल न रखने वाला, कामेडी की जैसी घटनाओं से बना हुआ नाटक फार्स (Farce) कहलाता है।

कामेडी में पात्र प्रतीक या टाइप की भाँति होते हैं। वे किसी वर्ग या जाति का प्रतिनिधित्व करते होते हैं, किन्तु एक ऐसा भी रूप होता है, जिसमें पात्र का व्यक्तिगत चरित्र ही प्रतिपादित होता है। यह ड्रामा (Drama) है। मान लीजिये एक व्यक्ति सागरमल है—कामेडी में वह वैश्य जाति का प्रतिनिधित्व करता है, उसके व्यापार उसके निजी नहीं होते। तब नाटक में सागरमल सागरमल ही रहे, उसके निजी गुणों और स्वभाव को प्रकट करते हों, जाति के स्वभाव को नहीं, तो वह 'ड्रामा' होगा।

ट्रेजेडी कामेडी के मेल से इसी प्रकार कितने ही नाटक के भेद हो जाते हैं। आधुनिक नयी प्रवृत्तियाँ जहाँ ट्रेजेडी कामेडी के मेल से कई नये प्रकार के नाटक दे रही हैं, वहीं यह सिद्ध करती हैं कि अब ट्रेजेडी और कामेडी के भेद की दीवारें टूट रही हैं।

एकांकी

हिन्दी में एकांकियों की परम्परा हमें संस्कृत तथा बँगला से होकर भारतेन्दु युग में और तब से अब तक मिलती है। इस इतिहास में हमें मिलता है कि आधुनिक काल में इन एकांकियों में जिस काल का उद्‌घाटन हुआ है, उसमें पाश्चात्त्य एकांकियों का बहुत बड़ा हाथ है। आधुनिक काल से पूर्व एकांकियों में साहित्य का अक अलग अंग होने का भाव नहीं था। वे रूपकों के ऐसे ही भेद थे जैसे प्रकरण, नाटक आदि थे…और उन्हें नाटक का ही नाम भी दिया जाता था। उनकी टेकनीक के किसी पृथक् सिद्धान्त का पता तब नहीं था। पाश्चात्त्य साहित्य के द्वारा हमें यह चेतना मिलती है कि एकांकी का साहित्य में अलग मूल्य है। और उसकी टेकनीक का पाश्चात्त्य 'वन ऐक्ट प्ले' की टेकनीक से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हिन्दी में पाश्चात्त्य जगत के जिस एकांकीकार का सीधा और भास्वर प्रभाव रहा है, वह बर्नार्ड शा है। यों तो इब्सन आदि का भी प्रभाव माना जा सकता है और फिर एक नहीं अनेकों का प्रभाव हिन्दी के विविध एकांकीकारों पर मिलेगा। सबसे सीधा प्रभाव जिस एकांकीकार ने हिन्दी में पाश्चात्त्य से ग्रहण किया, वह भुवनेश्वर हैं। वे तो उस प्रभाव को पूरी तरह पचा भी नहीं सके हैं। भाव में, रंग में, स्वभाव में मौलिक होते हुए भी उनके एकांकी अनुवाद से हैं। दूसरे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हैं, पर इस नाटककार ने केवल टेकनीक और सामग्री के लिए प्रेरणा पाश्चात्य साहित्य से ली, उसे पचाया और तब उसने अपने समाज और घर के व्यवहारों से उसके लिए वस्तु-सामग्री प्रस्तुत की। इसमें इसीलिए बहुत अधिक यथार्थवाद आ गया है। सेठ गोविन्ददास तीसरे व्यक्ति हैं जिन्होंने टेकनीक को उधार लिया पर उसमें कुछ अपना हाथ भी लगाया, और अपने आदर्शों को तथा अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एकांकियों को जैसे माध्यम बनाया। इसीलिए उनके एकांकियों में सावधान शिल्प

का परिमार्जित रूप मिलता है। प्रतिभा का अधिकारी उपयोग नहीं मिलता। उनके एकांकी आगरा के बने संगमरमर के ताजमहलों की भाँति दर्शनीय हैं। डा० राजकुमार वर्मा पर भी इस प्रभाव का अभाव नहीं, पर उनके एकांकी की कल्पना में काव्य और अयथार्थ परिस्थितियों की रंगत खूब जमी हुई है, और उनके एकांकी की टेकनीक जैसे नये प्रयोगों से निखर रही है। उनकी हँसी जैसे लखनवी की हँसी है, नफ़ासत के काव्यमय और कौतूहलमय आडम्बरों में विकसित होने वाली, अदाँ वाली। इन कुछ सँकेतों से वस्तु स्थिति का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यह वस्तुतः पृथक् अध्ययन का विषय है और जो यहाँ कहा गया गया है उसका अभिप्राय केवल यही है कि एकांकी-कला की प्रेरणा पाश्चात्त्य साहित्य से मिली है, पर उसकी परम्परा का मूल भारत में ही है। अतः हिन्दी ने अपनी निजी मौलिक कला को भी विकसित किया है, जो इस अध्ययन से प्रकट होती है।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि हिन्दी के एकांकियों के नवोत्थान में अँग्रेजी एकांकियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है, और अब भी अँग्रेजी तथा पाश्चात्त्य जगत् से हिन्दी-एकांकी बहुत-कुछ ग्रहण कर रहा है। अँग्रेजी के बाद अब रूसी का प्रभाव बढ़ रहा है।

एकाङ्की शिल्प

हिन्दी में आधुनिक एकांकी नाटक की टेकनीक नयी होने पर भी काफी उन्नति कर चुकी है। उसके सम्बन्ध में अनेकों मत भी प्रचलित हो चुके है। एकांकी बड़े नाटक का एक अंग नहीं है। किसी भी नाटक के एक अंक में हमें कितनी ही शाखा-प्रशाखाएँ, कितना ही फैलाव मिल सकता है, वे उसमें तीव्र गति से अपनी समाप्ति की ओर भी दौड़ती नहीं दिखायी पड़ सकतीं। स्थल और काल-संकलन की उनके लिए अनिवार्यता नहीं; क्योंकि प्रासंगिक और मुख्य वस्तु की कई घटनाएँ अलग-अलग और मिल-जुलकर चलती प्रतीत होती हैं। एक अंक में विविध दृश्यों का विधान इसी दृष्टि से होता है। तब यदि हम यह मान लेते हैं तो यह कहना पड़ता है कि एकांकी में एक ही अंक होना चाहिये और एक ही दृश्य। उसमें स्थल और काल का संकलन भी होना चाहिये। जिन एकांकियों में इसका निर्वाह नहीं हुआ है वे फोटो के आउट आव

फोकस के चित्र-जैसे लगने लगते हैं, जिसमें वस्तु तो आ गयी दीखती है पर जिसकी रेखाएँ अस्वाभाविक रूप से फैल गयी होती हैं। गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सुहाग-बिन्दी' में वह स्थलान्तर और कालान्तर बिन्दी की बिन्दुता को तो विद्रूप कर देता है, उसकी कथा का वेग भले ही उसे सँभाले रखता हो। सेठजी के उपक्रम और उपसंहार नाटक रूपी पतंग में चिपके हुए पुछल्ले-से लगते हैं, वे नाटककार को दृष्टि में उसके नाटक को किसी दृष्टि से उत्कृष्टता की ओर नहीं ले जाते। ये सब एकांकी की आन्तरिक कमजोरी को भले ही पूरा करते हों, नाटक को कला की दृष्टि से उत्कृष्टता की ओर नहीं ले जाते। ये सब एकांकी की आन्तरिक कमजोरी की चिकित्सा के लिए हो सकते हैं। उपक्रम और उपसंहार जोड़ने वाला एकांकीकार अपने मूल एकांकी की असफलता का स्वयं ढिंढोरा पीटता प्रकट होता है।

शास्त्रकार तो संकलनत्रय का उपयोग बड़े नाटकों तक में चाहते हैं, जैसे मीना में हुआ है, तो एकांकी में तो उसकी नितान्त अनिवार्यता ही होनी चाहिये। उसी के द्वारा कला का यथार्थ विकास हो सकता है।

एकांकी को नाटक का संक्षिप्त रूप भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का कहना है कि यह नाटक का छोटा रूप है या छोटा नाटक है, नाटक तो वह है दृश्य और अभिनेय होने के कारण, पर नाटक की शास्त्र द्वारा जो परिभाषा की जाती है उससे वह छोटा नाटक नहीं। छोटे नाटक कहने के अर्थ होंगे कि उसमें नाटक के सभी तत्त्व मिलते हों। पर जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि जब नाटक के एक अंक तक से एकांकी का साम्य नहीं बैठता तो सम्पूर्ण नाटक के सब तत्त्व उसमें कैसे मिल सकते हैं। प्रासंगिक कथाओं का निषेध होता है, घटनाओं के घटाटोप का निवारण होता है, किसी चरित्र के आदि-मध्य-अवसान के पूर्ण विकास का अवकाश नहीं रहता, नाटक के उतार-चढ़ावों की भी इसमें गुञ्जाइश नहीं है।

अतः एकांकी स्वतन्त्र टेकनीक वाला साहित्य का एक भेद है, उसमें स्थल, काल और व्यापार के संकलन मिलने चाहिये। यह तो एकांकी की सीमाओं की स्थापना है।

अब उसकी आन्तरिक विकास की अवस्था आती है—इसमें एक बात तो यह मिलती है कि आरम्भ बहुत छोटा होना चाहिये, इसके लिए यह आवश्यक

नहीं कि पर्दा खुलते ही पात्र वस्तु पर टूट पड़ें। सबसे पहले मुख्य वस्तु से किसी भिन्न बात को लेकर आरम्भ हो सकता है। जब आरम्भकर्त्ता पात्रों का परिचय हो ले तो शीघ्र ही मुख्य वस्तु दृष्टिगोचर हो जानी चाहिये।

एकांकी नाटक में नायक-प्रतिनायक की भी कल्पना हो सकती है, यह ऐसे नाटकों में होती है; जिनमें प्रेम का बाह्य संघर्ष भी प्रस्तुत है, पर यह अनिवार्य नहीं। प्रधान पात्र के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र गौण हो सकते हैं और वे प्रधान पात्र से सम्बन्धित नाटकीय वस्तु को विकसित करने में ही सहायक होते हैं।

इस प्रकार इन उपादानों तथा ऐसे अन्य उपादानों का सहारा लेता हुआ एकांकी अपने अन्त पर पहुँचता है। यह तो गति के साधनों का उल्लेख हुआ।

आरम्भ के बाद गति आ जाने पर वह उग्र ही होता जाना चाहिये। इस गति के दो साधन और हो सकते हैं—संघर्ष तथा विकास।

यह विकास एकांकी के आरम्भ होने से अन्त तक पहुँचने की क्रमबद्ध सीढ़ियों अथवा अवस्थाओं से सम्बन्ध रखता है और इस बात पर निर्भर करता है कि उसका अन्त पूर्णतः अनिश्चित है। इसी आधार पर विन्यास से उसका भेद ठहरता है। विन्यास का अन्त, अन्त जैसा नहीं विदित होता, वह व्यवस्थात्मक कहानी (Story of design) की भाँति होता है।

संघर्ष वाले एकांकियों में दो पात्र गुँथे हुए से चलते हैं, उनमें नाटकों की गति के लिए पारस्परिक आक्रमण और प्रत्याक्रमण ही बहुत होते हैं, उन्हीं के वैविध्य में से सूत्र अन्त तक पहुँच जाता है। पर विकास वाले एकांकी को अपनी गति के लिए विविध आकस्मिक अथवा अन्य घटना और उपादानों की आवश्यकता होती है। उपादानों के उपरान्त उपादानों का आते चले जाना विकास वाले नाटक को गति देता है।

विकास, संघर्ष तथा विविध उपादानों से गति संग्रह करता हुआ एकांकी चरमोत्कर्ष (Climax) तक बढ़ता है, और यहाँ एकदम समाप्त हो जाता है, अनायास आकस्मिक समाप्ति की तरह।

क्लाइमैक्स का स्थल यदि एकांकी में बन जाता है तो वह एकांकी रस-परिपाक की भाँति स्वयं आकर्षक हो जाता है। जो कथा-सूत्र चलता है बढ़कर समाप्त होना चाहेगा, धीरे-धीरे उसमें एक तनाव आता चला जायगा, यहाँ तक कि वह तनाव उस स्थल पर जा पहुँचेगा जिससे अधिक तनाव को सहना उस एकांकी के उपभोक्ताओं की सामर्थ्य के बाहर है। इतनी ऊँचाई तक एकांकी को ले जाना उसे उसके चरमोत्कर्ष तक पहुँचा देता है, यही 'क्लाइमैक्स' है। कहानी सूत्र के क्लाइमैक्स तक ऊँचा पहुँचते-पहुँचते भाव भी खिंच जाते हैं और एकांकी का समस्त विधान तब सुखद उन्मुक्ति को चाहने लगता है। वह उन्मुक्ति सूत्र के झनझनाकर टूट जाने से मिले, जैसा ट्रेजेडी में होता है तो भी ठीक है और सूत्र का अपने अभीष्ट में पर्यवसान पा लेने से मिले, जैसा सुखान्त एकांकियों में होता है, तब भी ठीक है।

पर कला की दृष्टि से एकांकी की टेकनीक के लिए चरमोत्कर्ष (Climax) कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

टेकनीक (तन्त्र) के साथ ही एकांकी में हमें उसके संविधान, कथोपकथन, संवाद, उसके रचनात्मक आधार-तत्त्व तथा रंग-संकेतों पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है।

संविधान से अभिप्राय उस कथामय विन्यास से है जो एकांकी का ताना-बाना है। इसको लक्ष्य में रखकर हम यह जानना चाहते हैं कि एकांकी वस्तु का संयोजन उसकी टेकनीक के अनुकूल हुआ है। संविधान में यदि अधिक सूत्र आ गये तो एकांकी की टेकनीक उसे सँभाल नहीं सकेगी और एकांकी क्षुब्ध हो जायगा। संविधान के सूत्रों का पारस्परिक ग्रन्थन भी इस ढंग का होना चाहिए कि न तो वह गति का अवरोध करे और न टेकनिक के लिए जटिल हो।

कथोपकथन एकांकी का प्राण है। कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्ययुक्त चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने वाला तथा एकांकी के सूत्र को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिये। बहुधा एकांकी कथोपकथन में होकर समस्त गति और शक्ति संचित करता हुआ कथोपकथन द्वारा ही चरम उत्कर्ष

पर पहुँचता है, अथवा कथोपकथन या सम्भाषण में ही वह अपनी परिसमाप्ति पा लेता है।

कथोपकथनों में स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है। स्वगत-कथन आज एकदम अवांछनीय माने जाते हैं। ऐसी अवस्था में बातों में लगे रहना भी अस्वाभाविक है। मनुष्य क्या सदा बात ही करता रहता है, कभी स्वतन्त्र कुछ क्षण अपने से ही घिरा हुआ कुछ विचार नहीं करता। इस अस्वाभाविकता को भी बचाने के लिए कभी-कभी अब पदार्थों या पशु-पक्षियों को माध्यम बना लिया जाता है। फिर भी स्वगत के लिए आज के एकांकियों में अधिक गुञ्जाइश नहीं।

कथोपकथन में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि कहीं वह वाद-विवाद का रूप न ग्रहण कर ले। वाद-विवाद के भी स्थल एकांकियों में हो सकते हैं। जैसे 'सबसे बड़ा आदमी' में। इसमें भगवतीचरण वर्मा ने कुशलतापूर्वक वाद-विवाद को संविधान का अङ्ग बनाकर नाटक को प्रगति दी है। ऐसे स्थल पर वाद-विवाद ठीक ही है, पर यदि ऐसे वाद-विवाद ऐसे उपयुक्त अवसरों पर काम में नहीं लाये जाते तो एकांकी प्राण-हीन हो जायगा।

रंग-संकेत थोड़े-बहुत प्रत्येक एकांकी में मिलते हैं। ये अत्यन्त आवश्यक हैं। बिना इनके एक तो नाटकत्व का रूप प्रतिष्ठित नहीं होता। दूसरे ये नाटक को दर्शनीय बनाने और उसके प्रभाव को उद्दीप्त करने के लिए भी आवश्यक हैं। ये संकेत रङ्गभूमि की व्यवस्था के लिए तथा अभिनय की सहायता के लिए और पात्रों की रूप-कल्पना के लिए होते हैं। ये तीन ही रंग संकेत के कार्य हैं।

इस सब के बाद एकांकियों के लिए मिस्टर टालबाट ने दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं—एक यह कि एकांकी बुरा नहीं हो सकता, यदि चरित्र-चित्रण अच्छा है। दूसरे यह कि यदि एकांकी में हास्य का अभाव है तो वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। हास्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए ओ० डब्ल्यू० मेरियट ने जो लिखा है वह भी उल्लेखनीय है—"वक्र रेखाओं की वक्रता से ऋजु रेखाएँ विचलित नहीं होतीं, और हास्य, जो एक प्रकार

की दार्शनिक सावधानता है एक उन्माद-ग्रस्त नाटक में ही नहीं वरन् इस उन्मत्त संसार में भी आवश्यक है।"

गीति-नाटक

यह एक नया प्रयोग हिन्दी में होता मिलता है। एकांकियों का प्रचार और प्रसार भी तथा इनकी कला का विकास भी पर्याप्त हो चुका है। इनकी एक नियमित परम्परा भी हो गयी है। किन्तु जिस नये प्रयोग की ओर संकेत है, वह 'गीति-नाटक' है, और इसकी कोई शृङ्खलाबद्ध परम्परा नहीं मिलती। 'गीति-नाटक' भी नाटक का एक स्वतन्त्र अङ्ग और विकास है। 'गीति-नाटक' में समस्त संवाद गीतिमय पद्य में होते हैं, गद्य नहीं रहता। फलतः काव्य-भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए यह सबसे उपयोगी साधन है। स्थान-स्थान पर जब और भी सुकुमार भाव इसमें आते हैं तो कवि गीतों का संयोजन भी कर देता है। अभिनय के लिए यह अत्यन्त कठिन है। अँगरेजी में 'गीति-नाटकों' का अभाव नहीं है। यों तो शेक्सपीयर, मार्लो आदि के एकाध-नाटक में आद्योपान्त पद्य का उपयोग हुआ है, किन्तु उनमें व्यापार और चरित्र-दर्शन की ओर प्रवृत्ति है, अतः गीति-नाटक या लिरिकल ड्रामा (Lyrical Drama) वास्तव में शैली, ब्राउनिंग आदि के गीति-नाटकों को ही कहा जाता है। इनमें भाव-संघर्ष और सुकुमार वृत्ति का प्रकाश प्रधान है। मिल्टन का 'कोमस' भी इसी श्रेणी में रखे जाने योग्य है।

हिन्दी के गीति-नाटक इतना संगीत-सौन्दर्य को प्रस्तुत नहीं करते वरन् भाव की उन्नत स्थिति को, महत् कल्पना को और चरित्र-सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हैं।

हिन्दी में यों तो पद्यमय नाटकों का आरम्भ संस्कृत-नाटकों के अनुवाद से ही माना जा सकता है, पर वे अनुवाद गीति-प्रवृत्ति और मनोरमता से शून्य थे, अतः यथार्थ में गीति-नाटकों का आरम्भ बिलकुल आधुनिक युग में हुआ है। भारतेन्दुजी का 'भारत दुर्दशा' 'नाट्य-रासक', गीति-नाटक का पूर्व रूप प्रतीत होता है। इसमें भी विविध पात्र बहुधा स्थलों पर पद्य-गीत में ही वार्त्तालाप करते हैं, कहीं-कहीं गद्य भी है। बीच में फिर किसी ने विशेष प्रयोग इस दिशा में नहीं किया। तब प्रसाद जी ने अपने आरम्भिक साहित्यिक प्रयोगों

में 'करुणालय' लिखा। यह पूरा 'गीति-नाटक' है, यह वैदिक घटना का रूपान्तर है। जिसका शुनःशेप की मुक्ति से सम्बन्ध है। फिर बीच में एक व्यवधान उपस्थित हुआ, जिसे मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'अनघ' लिखकर तोड़ा। 'अनघ' बौद्ध कथानक के आधार पर 'अहिंसा' का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया। यह मिल्टन के 'कोमस' की तरह का है, किन्तु मिल्टन की भाँति इसमें दैवी पात्र नहीं आये। गुप्तजी के इस प्रयोग के उपरान्त और भी एक-दो व्यक्तियों ने इस दिशा में प्रयास किया। हरिकृष्ण प्रेमी जी का 'स्वर्ण-विहान' भी गुप्त शैली का 'गीति-नाटक' है। इसका कथानक कल्पित है। इसमें भी अहिंसा की विजय दिखायी गयी है। किन्तु ये प्रयास विशेष लोक-प्रिय न हो सके। अब तक के सब प्रयोगों में एक मन्दता रही। हाँ, भगवतीचरण वर्मा ने एकांकी नाटक 'तारा' में इस शैथिल्य को दूर किया। इसमें देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा और चन्द्रमा की प्रसिद्ध प्रेम-कथा का आधार लिया गया है। यों यह गीति-नाटक भी सफल हैं; किन्तु पं० उदयशंकर भट्ट जी के गीति-नाटकों में यह कला भी उत्कर्ष पर पहुँच गयी है। 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' इनके तीन गीतिनाटक हैं। इन्होंने पहले दोनों नाटकों को नारी, तथा सौन्दर्य की शक्ति और यौवन की शाश्वत समस्याओं को उपस्थित करने का साधन बनाया है। 'राधा' में भी नारी का ही अध्ययन है, पर भिन्न प्रकार से। इसमें उसके समर्पण की समस्या है। इस राधा के कृष्ण योगेश्वर कृष्ण हैं।

भट्ट जी इस दिशा में अत्यन्त सफल हुए हैं। ये गीति-नाटक एकांकी की भाँति ही छोटे होते हैं, और एकांकी के सभी नाटकीय तत्त्व तो इनमें रहते हैं, पर भावों के काव्यमय प्रकाशन में इनको विशेष सचेष्ट रहना पड़ता है, अतः इनमें व्यापार को उतनी प्रधानता नहीं दी जाती, जितनी एकांकी अथवा नाटक में दी जाती है। भावोत्कर्ष के महत्-स्थूलों की अवहेलना भी नहीं की जा सकती, अतः भावोद्वेलक और विचारोत्तेजक स्थलों पर रुककर कवि विस्तार के साथ वर्णन-कौशल दिखाता है। अन्य सौंदर्य-स्थलों का वर्णन भी श्लाघ्य है—वहाँ कवि ठहर सकता है। इस दिशा में किये गये प्रयोगों में सबसे अधिक सफलता उदयशंकर भट्ट जी को ही मिली है, पर यह क्षेत्र फिर उपेक्षित पड़ा है। इधर इस समय और कोई प्रगति नहीं हो रही।

गीति-नाटकों के रंगमंच का अभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता, हिन्दी में जब साधारण नाटक के लिए ही कोई रंगमंच नहीं तो गीति-नाटकों के लिए कहाँ से आयगा। इस क्षेत्र में विकास की बहुत संभावना है। रेडियो-रूपकों की भाँति गीति-नाटकों का प्रसार इधर रेडियो पर हुआ है। रेडियो-रूपकों में अभिनय का आभास भी ध्वनि के द्वारा ही होता है। रेडियो-रूपक केवल श्रव्य होता है, दृश्य नहीं।

रंगमंच

आवश्यकता—नाटक के लिए रंगमंच की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आवश्यकता प्रायः सभी सभ्य देशों में अनुभव की गयी है, फलतः नाटक के विकास के साथ विविध देशों में अलग-अलग बहुधा स्वतन्त्र रंगमंच का निर्माण हुआ है। भारत में तो अति प्राचीन काल से रंगमंच के निर्माण का विधान मिलता है।

बात यह है कि नाटक के पात्र, उसकी कथा, उसके कथोपकथन, संगीत तथा वाद्य सभी को एक भूमिका की आवश्यकता रहती है। यह भूमिका ही रंगमंच है। नाटक-रंगमंच पर जितना प्रभावोत्पादक और सुन्दर लगता है उतना खुले में नहीं लग सकता। कारण स्पष्ट है। स्वभाव से ही नाटक का रूप ऐसा है जिसमें कलात्मक चयन पर ध्यान रहता है। जो साधारण है उसमें से चुनकर उसे सुन्दर कलामय रूप में प्रस्तुत करना कि उसकी स्वाभाविकता बनी रहे और वह स्वाभाविकता संकुचित सीमा में दबोचकर भरी जाकर विशेष शक्तिशालिनी हो जाय, यह नाटक की कला का मुख्य रहस्य है। रंगमंच इसमें सहायता करता है। उस छोटे से रंगपीठ पर समस्त विस्तृत क्षेत्र सिमटकर समा जाता है। इससे वह अत्यन्त प्रेक्षणीय हो जाता है। रंगपीठ पर आते-जाते समय और अभिनय करते समय गति का और नाट्य का स्वरूप जितना सधा हुआ हो सकता है, उतना खुले में नहीं। रंगमंच से आज तो चित्रकला, दृश्य-विधान आदि के द्वारा स्थान, वातावरण और नदी, पर्वत, सागर, झरनों आदि के स्वाभाविक दृश्य उपस्थित किये जाते हैं। इन सबका प्रबन्ध खुले में नहीं हो सकता। अतः केवल सौन्दर्य और कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के

लिए ही नहीं, नाटक के कथा-पात्र संविधान को उसकी अन्तरंग सहायता के लिए भी रंगमंच अनिवार्य है।

भारतीय रंगमंच का रूप—भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में तीन प्रकार के रंगमंच बताये हैं—(१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र, तथा (३) त्र्यस्र। इनको मुनि ने नाट्य-गृह बताया है। इन तीनों के भी तीन-तीन भेद और थे—ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। ज्येष्ठ बड़ा होता था, यह सुर-असुरों के युद्ध आदि विशेष संघर्ष-पूर्ण अभिनयों के लिए होते थे। एक मत यह है कि ज्येष्ठ नाट्य-गृह देवताओं के लिए होते थे। यह अमान्य प्रतीत होता है। मध्यम उन नाटकीय प्रयोगों के लिए था, जिनमें युद्ध तथा लड़ाइयों अथवा ऐसे ही विकट संघर्षों को स्थान न हो। कनिष्ठ का रंगपीठ सबसे छोटा होता था, यह ऐसे नाटकीय प्रयोगों के लिए होता होगा जिनमें भाण की भाँति एक ही पात्र या कम पात्र भाग लेते हों।

रंगमंच के निर्माण का नियम प्रायः एक ही था। रंगपीठ पूर्वाभिमुख होता था। नाट्य-गृह पहले दो भागों में विभक्त किया जाता था। एक भाग प्रेक्षागृह कहलाता था। इसमें पश्चिम की ओर मुख करके दर्शक या प्रेक्षक बैठते थे। दूसरा भाग रंगभूमि कहा जा सकता है। प्रेक्षकों से चार हाथ वा एक निश्चित फासले पर डेढ़ हाथ ऊँचा रंगपीठ बीचों-बीच में होता था। रंगपीठ वास्तविक स्टेज है। इसी पर पात्र अभिनय करते थे। इसके दोनों ओर चार स्तम्भों के ऊपर अम्बारी की भाँति एक स्थान बनाया जाता था। ये 'मत्तवारिणी' कहलाते थे। रंगपीठ के ठीक पीछे कुछ ऊँचाई पर रंगशीर्ष होता था। यह रंगशीर्ष संभवतः दृश्यों के विविध विधानों के काम में आता था। राज-सभा आदि के दृश्य इस पर होते थे। अन्य दृश्यों के दिखाने के लिए 'कक्षाओं' का उपयोग किया जाता था। रंगशीर्ष के दोनों पार्श्वों में नेपथ्य के दरवाजे में गायकों और वादकों के लिए स्थान था। रंगशीर्ष के पीछे एक भित्ति होती थी। इस भित्ति के दूसरी ओर नेपथ्य होता था। नेपथ्य में नट-वर्ग अपनी वेश-भूषा सँभालता था। इस भित्ति में दो द्वार होते थे, जो रंगशीर्ष के दोनों ओर खुलते थे।

विकृष्ट नाट्य-गृह की चौड़ाई बत्तीस हाथ, लम्बाई ६४ हाथ बतायी गयी

है। यह मध्यम विकृष्ट गृह है। इसको बीच में से बाँट दिया जाता था। ३२ वर्गफुट के दो वर्ग हो जाते थे। पूर्व वाला प्रेक्षागृह होता था। दोनों मत्तवारिणियाँ आठ हाथ चौकोर स्थान में ठीक रंगपीठ की दोनों ओर रहती थीं। रंगपीठ के पश्चिम में किन्तु बीचों-बीच आठ हाथ चौड़ा रंगशीर्ष होता था। रंगशीर्ष के पीछे ३२ हाथ चौड़ा, १६ हाथ लम्बा नेपथ्य-गृह होता था।

विकृष्ट का ज्येष्ठ नाट्य-गृह १०८ हाथ होता था, कनिष्ठ ३२ हाथ। और सब बातें मध्यम विकृष्ट-गृह की भाँति होती थीं।

चतुरस्र नाट्यगृह बिलकुल चौकोर होता था। इसका भी ज्येष्ठ १०८ हाथ लम्बा-चौड़ा, मध्यम चौंसठ, तथा कनिष्ठ बत्तीस हाथ।

पहले ईंटों से निश्चित लम्बाई-चौड़ाई का इसका परकोटा बनाया जाता था। इसके ठीक मध्य में कनिष्ठ नाट्य-गृह में आठ हाथ का चौकोर रंगपीठ बनाया जाता था, इसी लम्बाई-चौड़ाई की मत्तवारिणियाँ रंगपीठ के ठीक दोनों ओर होती थी। रंगपीठ के पश्चिम में रंगपीठ से सटा हुआ आठ हाथ का रंगशीर्ष बनता था। रंगशीर्ष को भित्ति द्वारा नेपथ्य से अलग किया जाता था। नेपथ्य बत्तीस हाथ चौड़ा और चार हाथ लम्बा होता था।

त्र्यस्र नाट्य गृह त्रिकोण के आकार का होता था। यह समत्रिभुज होता था। त्रिकोण की दृष्टि से जो भेद पड़ता था उसे छोड़ कर शेष समस्त विधान चतुरस्र की ही भाँति होता था। भारतीय परम्परा के रंगमंच बिल्कुल नष्ट हो गये।

इधर १८७० ई० के लगभग पारसी रंगमंच बना। फ्रामजी की 'ओरिजिनल-थियेट्रिकल कम्पनी' संभवतः पहली कम्पनी थी। फिर और भी कितनी ही कम्पनियाँ खुलीं। पारसी-कम्पनियों ने आधुनिक रंगमंच दिया। इसी पारसी-रंगमंच के लिये आगे चलकर राधेश्याम कथावाचक तथा नारायणप्रसाद 'बेताब' जैसे नाटककारों ने अपनी नाट्य-कला का कृतित्व प्रदान किया।

इस 'रंगमंच' पर अद्भुत दृश्य दिखाये जाते थे, नाटक रोमहर्षक घटनाओं से पूर्ण होते थे—अभिनय आकर्षक किन्तु अत्यन्त हीनकोटि का होता था। इस रंगमंच के अभिनय में डाइरेक्टरों की दृष्टि में काल और पात्र की अनुकूलता का कला के लिए कोई मूल्य नहीं था। फलतः इन पारसी-कम्पनियों के द्वारा

नाट्य-कला का ह्रास ही हुआ, यही कारण है कि ये हिन्दी के रंगमंच का आदर्श नहीं बन सकीं। इन कम्पनियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया भारतेन्दु के समय में ही हो उठी। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने अपनी 'नाटक' नामक पुस्तक में एक घटना का उल्लेख किया है : "काशी में पारसी-नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमददास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

इसी काल में भारतेन्दु जी तथा अन्य शिष्ट जनों ने हिन्दी के योग्य रङ्गमंच की प्रतिष्ठा की। इस उद्योग के फलस्वरूप शीतलाप्रसाद त्रिपाठी जी का 'जानकीमंगल' नाटक चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ में बनारस थियेटर में खेला गया। यह हिन्दी का सबसे पहला नाटक है जो रङ्गमंच पर खेला गया। भारतेन्दु जी के काल में जो जागृति हुई वह उनके उपरान्त शिथिल हो गयी। और हिंदी रङ्गमंच के बनने का उद्योग शिथिल हो गया। बाद में एक-दो उद्योग और हुए वे भी विफल हुए।

हाँ, पारसीस्टेज ने कुछ सुधार किया, और अपने मंच पर हिन्दी को भी स्थान दिया। हिंदी के ये नाटक अत्यन्त लोक-प्रिय हुए पर उनका उच्चारण उर्दू ही रहा। तात्पर्य यह है कि पारसी-मंच हिंदी-रङ्गमंच का अभाव दूर नहीं कर सका। मेरठ में श्रीयुत विश्वम्भर सहाय जी 'व्याकुल' ने 'व्याकुल भारत कम्पनी' खोली। व्याकुल जी के इस प्रयोग को विशेष अवकाश नहीं मिल पाया संभव था यह प्रयोग हिंदी का रङ्गमंच बनाने में सफल होता।

हिंदी का रङ्गमंच क्यों न बन सका, इसमें एक कारण तो हिंदी-क्षेत्र की धार्मिक-वृत्ति थी, दूसरे हिंदी में रङ्गमंच के पुनर्निर्माण का उद्योग साहित्य-प्रेमियों तक ही विशेषतः सीमित रहा, किसी धनिक ने व्यवसाय की दृष्टि से उधर ध्यान नहीं दिया। उस काल के हिंदी पत्रों में भी इस प्रवृत्ति के लिए उत्साहवर्द्धक अभिरुचि नहीं थी। और जब इधर रुचि हुई है तो सिनेमा ने

पुराने नाटकघरों को ही समाप्त कर दिया है, नयों का प्रश्न ही नहीं उठता।

पर यह सिनेमा द्वारा हुआ अवरोध स्थायी नहीं। सिनेमा और नाटकों की कला में बहुत अन्तर है। दोनों ही अपने अपने स्थान पर उन्नति कर सकते हैं। सिनेमा में प्रतिकृति ही होती है। उसकी कला द्वारा अभिनेता के कुछ आकर्षक व्यापरों को सुसंबद्ध करके सिनेमा के चित्रपट पर कथा प्रस्तुत करते हैं। नाटक में सजीव सदेह अभिनेताओं का सम्पूर्ण अभिनय देखने का अवसर मिलता है। नाटक के द्वारा नाटककार अभिनय, रङ्गमंच सभी का संवेदनात्मक संस्पर्श प्राप्त करता है। नाटक को सिनेमा से भय नहीं, केवल आवश्यक सुधार और दृढ़ता की आवश्यकता है। सिनेमा मनोरंजन कर सकता है, नाटक कला को विकसित करता है। सिनेमा के मूल में नाटकों का तात्त्विक आधार रहता है।

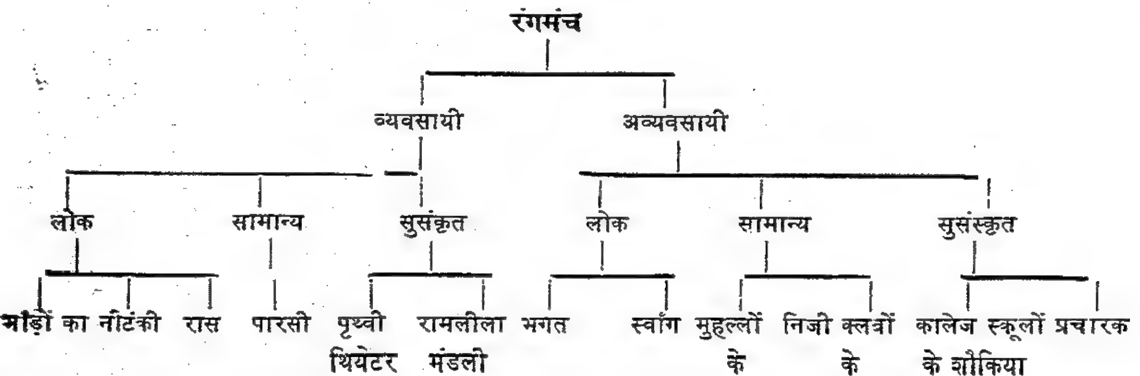
सिनेमाओं के अस्तित्व से नाट्य-कला का ह्रास हो जाना आवश्यक नहीं है। यद्यपि गुण-ग्राहकों की कमी है तथापि सच्चे गुण का सम्मान हुए बिना नहीं रहता।

इधर तीन उल्लेखनीय घटनाएँ रंगमंच के क्षेत्र में हुई हैं। एक तो पृथ्वी थियेटर्स के व्यवसायात्मक प्रयोग। प्रसिद्ध कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने यह अपना रंगमंच खड़ा किया है, जो पर्याप्त सफल हुआ है। किन्तु उसकी परम्परा चल सकेगी यह अभी अनिश्चित है। दूसरी घटना हुई है इप्टा (IPTA) इंडियन पीपिल्स थियटर्स एसोशियेशन। यह रंगमंच प्रचारार्थ खड़ा किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि यह रंगमंच विशेष राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए है। तीसरी घटना हुई है अर्द्धसरकारी 'नाटक संगीत अकादमी' की स्थापना। यह नाटक कला को प्रोत्साहित करती है, स्थायी रंगमंचों को इससे प्रोत्साहन मिलेगा। जबलपुर में सेठ गोविन्ददासजी के शुभ प्रयत्नों से एक घूमने वाला रंगमंच (Revolving Stage) भी स्थापित हो गया है।

इन रंगमंचों पर अब नाटक की नयी-नयी कला के प्रदर्शन होते हैं। यह कला एकांकी के बिधान को विशेषतः अपना रही है।

८

वास्तव में देखा जाय तो हिन्दी में रंगमंच के हम आज कुछ ये भेद कर सकते हैं।



चतुर्थ अध्याय

कथा-साहित्य

: १ :

उपन्यास

'कथा साहित्य' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया गया है। अंग्रेजी में जो अर्थ फिक्शन (Fiction) में होता है, वही कथा साहित्य से अभिप्रेत है। कथा-रूपों के मूल उदय की कथा से हमें विदित होता है कि गीत के बाद ही कथा या कहानी का जन्म हुआ होगा। किन्तु साहित्य के अन्तर्गत इसको स्थान बाद में मिला। कथा-साहित्य में कहानी और उपन्यास का प्राधान्य रहता है। 'लघुकथा' भी कहानी से कुछ अलग विकास करने लगी है। उपन्यास पर पहले ध्यान जाता है।

नाटक मानवीय संस्कृति के विकास में दूसरी सीढ़ी ही होंगे। समस्त प्राचीन साहित्य में पहले काव्य, उसके उपरान्त नाटक मिलते हैं। यों तो नाटकों में कथानक होता है, जिससे नाटक भी कथा-साहित्य के अन्तर्गत आ सकते हैं, पर ऊपर नाटकों के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाटकों

में कथा-वस्तु का तो आधार-मात्र होता है, मुख्य वस्तु तो वे मनुष्य-चरित्र हैं जो पात्र के रूप में प्रस्तुत होते हैं। 'कथन तत्व' की अपेक्षा 'संवादत्तत्व' की प्रमुखता होती है। नाटक में ऐसे मनुष्य-चरित्रों की आन्तरिक मनोभिव्यक्ति का काव्य ही प्रधान होता है। किन्तु संस्कृति और सभ्यता के चतुर्थ विकास में 'काव्य-भाव' की अपेक्षा 'कथाभाव' बल पकड़ने लगता है, तब साहित्य में उपन्यास तथा कहानी जन्म ग्रहण करते हैं। 'पंचतन्त्र' की कहानियों की भूमिका में यह कहा गया है कि मूढ़ राज-पुत्रों को राजनीति सिखाने के लिए पंचतन्त्र की कहानियों की अवतारणा हुई। राज-पुत्रों के गुरु ने इस कार्य के लिए न तो काव्य को चुना, न नाटक को। वास्तविक बात यह है कि काव्य में कथा नहीं, और नाटक में जैसी कथा या जैसी कहानी है, उसमें कथातत्व को महत्त्व देते हुए जब रचनाएँ होने का अवसर आ गया, तभी उपन्यास तथा कहानी लिखे गये। मनुष्य में कहानी-कथा के लिए स्वाभाविक रुचि है। लोक-कहानियों का जन्म तो पूर्व ऐतिहासिक काल में ही हुआ। किन्तु आरम्भिक अवस्था में यह कथा-कहानी साधारण वार्ता रही होगी, इसलिए अपने स्वाभाविक रूप में इसे साहित्यिक मान नहीं मिल सका; छन्द का लिबास पहने हुए कहानियाँ हमें वेदों तक में मिल जाती हैं।[1] महाकाव्य तो अत्यन्त विस्तृत कहानियाँ हैं अथवा कहानियों के समूह ही हैं। इसी कहानी-कला के स्वाभाविक प्रेम को लक्ष्य करके साहित्यकार ने कथा-कहानी के गद्य-बद्ध रूप के दो शक्तिशाली प्रकारों की उद्‌भावना की : एक उपन्यास, दूसरी कहानी। वर्तमान युग में उपन्यास तथा कहानियों ने काव्य तथा नाटक को पछाड़ दिया है। आज के प्रमुख साहित्यकारों में टाल्सटाय, गोर्की, हार्डी, मोपासाँ, प्रेमचन्द, शरत् आदि उपन्यास-लेखकों और कहानी-लेखकों के नाम पहले स्मरण आते हैं। मनुष्य को स्वभावतः प्रिय लगने वाली कथा-कहानी की वस्तु को लेकर उपन्यास उसमें साहित्य का लालित्य, कला का सौष्ठव, चरित्र का अध्ययन और जीवन की व्याख्या भर देता है। उपन्यासकार अपनी शैली के राग और

---

१. देखिए 'वैदिक आख्यान से' नाम की कीथ महोदय की रचना। कुछ कथाएँ ये हैं—पुरुरवा-उर्वशी, यम-नचिकेता, हरिश्चन्द्र और शुनःशेप, लोपामुद्रा आदि।

मार्दव से कथा-पात्रों में ऐसी शक्ति भर देता है कि पाठक उसके प्रत्येक पात्र में डूब जाता है और अपने तादात्म्य से जीवन के स्वरूप को यथावत् हृदयंगम करता है। इसीलिए उपन्यास मनोरंजन के साधन भी हैं, और मनुष्य को प्रभावित करने के प्रबल माध्यम भी।

उपन्यास का साहित्य में स्थान

उपन्यास का साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसका अपना व्यक्तित्व है, अपनी सीमाएँ हैं। यह एक छोर से पद्य साहित्य, मुक्तक कविता, खण्ड-काव्य, महाकाव्य आदि से अलग है तो दूसरी ओर इतिहास, पुराण, जीवन-चरित्र आदि से भी अलग है। जीवन-चरित्र, साहित्य व इतिहास दोनों छोरों को स्पर्श करता है। क्योंकि लेखक को सभी घटनाओं का सच्चा वर्णन करना पड़ता है परन्तु उपन्यासों में ऐसा बन्धन नहीं है। कथात्मकता उनका प्रधान गुण है।

काव्य में घटनाएँ, पात्र आदि केवल काल्पनिक संकेतों का काम देते हैं। कविता में वस्तु का होना भी अनिवार्य नहीं है। परन्तु उपन्यास में 'ऐसा कैसे हुआ ?' का प्रश्न रहता है। 'ऐसा कैसे ?' में कौतूहल का भाव है। यह कौतूहल वास्तविक और काल्पनिक तत्वों से मिलकर उपन्यास में प्रस्तुत होता है। उपन्यास के आरम्भिक रूपों से आधुनिक विकास तक की स्थितियों में इस कौतूहल के अनेकों रूप मिलते हैं, इन्द्रजाल, तिलिस्म, माया-चमत्कार सम्बन्धी कल्पनाएँ भी उपन्यासों में व्यक्त हुई हैं। पर आज उपन्यासकार को अपनी कल्पना का इस रूप में प्रयोग करना पड़ता है कि उसकी कृति में पाठक की कौतूहल वृत्ति तो रम सके परन्तु उसमें इन्द्रजाल के ऐसे महल न खड़े कर दिये गये हों जिन पर विश्वास करना भी कठिन हो जाय। प्रायः उपन्यास पढ़ते समय पाठक की जिज्ञासा व मर्मभेदिनी बुद्धि जागृत रहती है, परन्तु काव्य में वह डूब ही जाती है। अतः बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'कविता पढ़ते समय पाठक आस्तिक रहता है और उपन्यास पढ़ते समय नास्तिक।' साथ ही काव्य पढ़ते समय रमण-वृत्ति प्रधान रहती है और उपन्यास पढ़ते समय कौतूहल-वृत्ति। उपन्यास में मुख्य आकर्षण कथा का होता है और होना भी चाहिये।

इस प्रकार उपन्यास जीवन-चरित्र और कविता के बीच की वस्तु है। उपन्यास अपनी सीमा में रहकर भी अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है।

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल-परिस्थिति का प्राधान्य रहता है, तथापि कल्पना के डोरों से घटना का रूप कुछ इस प्रकार गठित कर दिया जाता है कि वह केवल इतिहास नहीं रह जाता। अन्यथा इतिहास व उपन्यास में कोई अन्तर रहता ही नहीं। वास्तविक बात तो यह है कि 'इतिहास' तो मानव-चरित्र का मात्र अस्थि-पंजर देता है। घटनाओं तथा पात्रों का केवल ऊपरी ढाँचा। उपन्यासकार इतिहास के इन संकेतों से उस काल के जीवन्त रूप की कल्पना कर लेता है। उसके लिए कल्पना के प्रसाद से वह युग हस्ता-मलकवत् हो जाता है। उसी के सहारे वह तत्कालीन समस्त सम्भावित जीवन-वृत्ति का साक्षात्कार करके जीवन-कहानी को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत कर देता है।

उपन्यास और छोटी कहानी

यद्यपि उपन्यास और गल्प दोनों ही मनुष्य-जीवन की आनुषंगिक कथा को कल्पना के रंग में रंजित करके गद्य में व्यक्त करते हैं तथापि दोनों की सत्ता भिन्न समझी जाने लगी है। मूल रूप में कहानी उपन्यास से भिन्न नहीं है। प्राचीन समय की छोटी-छोटी कहानियाँ और कादम्बरी-जैसे बड़े उपन्यास एक ही कोटि में रखे जा सकते हैं, परन्तु आधुनिक दृष्टि से गल्प ने नवीन मर्यादा ग्रहण कर ली है। गल्प[1] आधुनिक आविष्कार है।

---

१. गल्प, आख्यायिका तथा कहानी साधारणतः एक ही वस्तु है। ऐतिहासिक दृष्टि से गल्प बँगला से लिया हुआ शब्द है, और द्विवेदीयुग के आरम्भिक चरण में कलात्मक कहानी के लिए 'गल्प' का उपयोग होता था। आख्यायिका शास्त्रीय शब्द है, और आख्यान से बना है। अधिक संस्कृत-मयता के पोषक इस शब्द का प्रयोग करते रहे हैं, वस्तुतः गद्यकाव्य की कोटि की छोटी कथात्मक रचनाएं आख्यायिका कही जायँगी। और आरम्भ में 'कहानी' ग्राम-कहानियों अथवा मौलिक कहानियों को ही कहते थे। किन्तु 'कहानी' हिन्दी शब्द है और अब उच्च-से-उच्च कोटि की कला से युक्त कथा-साहित्य की लघु रचना 'कहानी' ही कहलाती है। गल्प अथवा आख्यायिका शब्दों का अब प्रयोग नहीं होता।

अमेरिका के कहानी-लेखक हाथवे तथा पी ने इसका आविष्कार किया। तत्पश्चात् स्काट, डिकेंस ने इसका विकास कर स्वतन्त्र साहित्य-सरणि के अन्तर्गत ला रखा। तब दोनों में क्या अन्तर है ? १. गल्प एक छोटे से प्रसंग को लेकर झलक दिखा देने का उद्देश्य रखती है, वह उपन्यास के कथा-भार और उसकी बहुविधि घाताघात से मुक्त हो गयी है। २. गल्प में उपन्यास के समान जीवन का चतुर्दिक् चित्र अङ्कित नहीं होता, केवल एक क्षण में घनीभूत जीवन-दृश्य को वह दिखलाती है। उसमें एक व्यक्ति के चरित्र के एक पहलू पर ही प्रकाश पड़ता है। उपन्यास की तरह चरित्र का सर्वाङ्गीण विकास नहीं दिखलाया जाता। इस दृष्टि से गल्प चाहे उपन्यास से बड़ी भी हो तब भी उपन्यास से अलग हो जायगी, क्योंकि उसमें कई घटनाएँ न होकर, एक घटना, एक दृष्टिकोण, मानव-चरित्र का एक प्रतिबिम्ब, एक सन्देश तथा एक भावना निहित होती है। उपन्यास में इन सबका समूह उपस्थित होता है। ३. कहानी की वस्तु सरल, संक्षिप्त, एकांगी, सघनता का भाव लिये हुए, अन्तर्कथाओं से रहित होती है। उपन्यास यदि महाकाव्य हो तो कहानी एक गीत है, उपन्यास वन है, तो कहानी वाटिका। अतः कहानी या गल्प उपन्यास का छोटा रूप नहीं है। एक फ्रेंच विद्वान् के अनुसार तो कहानी एक पात्र, एक ही घटना, एक ही भाव, एक ही दृश्य से उत्पन्न भाव-राशि का चित्रण करती है।

पी के अनुसार कहानी एक बैठक में समाप्त होनी चाहिये। 'उपन्यास इतना लघुकाय नहीं हो सकता। यह अस्वाभाविक बन्धन है, और कलाकार ऐसे बंधन स्वीकार करने का अभ्यस्त नहीं। यह समय का बंधन 'कहानी' की कला का मूल तत्व नहीं माना जा सकता। वह जिन घटनाओं, जीवन-संघर्षों तथा सन्देशों को लेकर चलता है उन सबको शृङ्खलाबद्ध करता हुआ चलता है, प्रथम उठाये हुए प्रश्नों का उत्तर देता है, उसमें पाठक को बीच में नहीं छोड़ा जा सकता। अतः कहा जाता है कि उपन्यास से जिज्ञासा शान्त होती है और गल्प से बढ़ती है।

इस प्रकार उपन्यास की परिधि स्पष्ट हो जाती है। अब हम उपन्यास के तत्वों पर विचार करेंगे।

तत्त्व—उपन्यासों का सम्बन्ध घटनाओं या व्यापारों से होता है। इन्हीं को हम उपन्यास की कथा या वस्तु कहते हैं। ये घटनाएँ या व्यापार मनुष्यों या प्राणियों के आश्रित रहते हैं, अतः ये मनुष्य या प्राणी, जो व्यापार-शृङ्खला को स्थिर करने वाले हैं, पात्र कहलाते हैं। इन पात्रों का आपस का वार्तालाप कथोपकथन कहलाता है। यह सब क्रिया-व्यापार किसी काल, देश या परिस्थिति-विशेष में होता है अतः इसे 'देश-काल' कहते हैं।

उपन्यास का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। अतः यह तत्त्व 'उद्देश्य' कहलाता है। अन्तिम तत्त्व है शैली, जो विचारों की अभिव्यक्ति का प्रकार विशेष है, और महत्त्वपूर्ण भी है।

वस्तु—उपन्यास मूलतः एक कहानी है। कहानी में घटनाओं का तारतम्य, उनमें से पात्रों के व्यक्तियों का विकास एक सूत्र में ग्रथित होता है। ऐसी सुग्रथित कहानी ही उपन्यास का कथानक होती है। इसमें किसी विशेष दृष्टि से ही अपनी कला को उपन्यासकार संयोजित करता है। उसी दृष्टि से वह घटनाओं को एक विशेष क्रम से रखता है। यही विशिष्ट योजनायुक्त कथानक 'वस्तु' है। कुछ विद्वान् कथानक की पूर्व संयोजना व्यर्थ समझते हैं। वे कहते हैं कि हमारे जीवन में पूर्व-निश्चित योजना कुछ भी नहीं है। अतः इस विशिष्ट योजना की आवश्यकता क्या है। इससे रचना भी अस्वाभाविक हो जाती है। नीत्शे कहा करता था—All that is pre-arranged is false. परन्तु लेखक का कर्तव्य यही है कि वह विशिष्ट योजना द्वारा घटनाओं और पात्रों का कथानक में संगठन करे। विशृङ्खल वस्तु, उपन्यास का एक प्रकार हो सकती है, परन्तु नियम नहीं हो सकती, यह निश्चय है।

मानव-जीवन द्वन्द्वपूर्ण है। उसमें सुख-दुःख, स्नेह-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष आदि के आघात लगते रहते हैं। दरिद्रता, समृद्धि, मैत्री, रोग, शोक आदि अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं। ये जीवन में घोर क्रान्ति ला देती हैं, अतः वस्तु का विचार करते समय हमें विचार करना होगा कि उपन्यास में किन-किन उपादानों का प्रयोग हुआ है, कौन-सा चित्र किन-किन भावों के साथ आया है, किन-किन परिस्थितियों में जीवन का उत्थान-पतन दिखाया गया है,

अन्त:संघर्ष व वाह्य-द्वन्द्व में किन-किन सूत्रों को पकड़कर उपन्यासकार चला है। अति सामान्य बातों को छोड़ना, शाश्वत भावनाओं का हनन न करना, उत्साह, उद्योग, दृढ़ता, सत्य आदि का उन्मेष करना मर्मस्पर्शिनी घटनाओं द्वारा ही सम्भव है।

साथ ही उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन भी है। श्रान्त क्षणों के लिए उपन्यास एक मधुर विश्राम का काम देते है, अत: मानव रहस्यों की अत्यन्त ऊहापोह उन्हें अत्यन्त क्लिष्ट न बना दे इसका ध्यान रखना होगा। निष्कपटता से मानव-भावनाओं का वर्णन हो, घटनाएँ स्वाभाविक व सम्भावित हों। प्रत्येक स्थिति से लेखक का प्रत्यक्ष परिचय हो। ऐतिहासिक चित्र देते समय तत्कालीन स्थिति का शुद्ध प्रतिबिम्ब देने की क्षमता हो। समुद्र, तूफान, कृषि, सेना, व्यापार, युद्ध, शान्ति, पर्वत, गिरि, गुहा प्रत्येक का चित्र स्पष्ट और सच्चा हो। और सबसे बड़ी विशेषता यह हो कि उपन्यासकार में 'कहानी कहने का गुण हो, घटनाओं का वर्णन परिस्थिति के अनुसार संक्षिप्त या विशद हो।'

भेद— वस्तु-विन्यास की दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद होते हैं : शिथिल कथानक वाले। विन्यस्त कथानक वाले।

१. शिथिल वस्तुप्रधान उपन्यासों में घटनाओं का विकास नहीं होता। भिन्न-भिन्न घटनाओं का एक असम्बद्ध वर्णन रहता है। दूसरी घटना पहली घटना का परिणाम नहीं हो सकती। इन घटना-समूहों को एक सूत्र में बाँधने वाला उस उपन्यास का नायक होता हैं।

२. विन्यस्त कथानक वाले उपन्यासों की घटनाओं में शृङ्खला, क्रम तथा संगति रहती है। स्फुलिंग के समान घटनाएँ एक-दूसरे से फूटती हुई जान पड़ती हैं और सब अपना उचित भाग पाकर एक निर्दिष्ट दिशा की ओर चलती हैं। अंगरेजी में इन्हें क्रमश: नॉवल्स आफ लूज प्लाट्स (Novels of Loose Plots) तथा नावल्स आफ औरगैनिक प्लाट्स (Novels of Organic Plots) कहते हैं। हिन्दी में 'देहाती दुनिया' प्रथम प्रकार को अर्थात् शिथिल कथानक का और 'गोदान' दूसरे प्रकार का अर्थात् विन्यस्त कथानक का उदाहरण है।

'विन्यस्त कथानक' के उपन्यासों में कुछ में तो नाटकों के जैसा 'बीज से

फल' तक पहुँचने वाला विधान होता है। आरम्भ में ही अन्त का विन्यास इसमें मिलता है, जैसे बीज ही में फल की सम्भावना दिखायी पड़ती है। कुछ उपन्यासों में केवल विकास-सिद्धान्त काम करता है। एक घटना से दूसरी, दूसरी से तीसरी उद्भूत होती है। और एक व्यवस्थित कथानक इसी क्रम से प्रस्तुत हो जाता है।

वस्तु-विधान में उपन्यासकार की दृष्टि मुख्यतः घटनाओं की संयोजना पर रहती है। घटनाओं का पारस्परिक गठन भी प्रवाह-पूर्ण ही होना चाहिये। उपन्यास के औपन्यासिक सूत्र की भाँति घटनाओं के तारतम्य में भी आवश्यक उतार-चढ़ाव होना चाहिये, और यह उतार-चढ़ाव औपन्यासिक सूत्र के अनुकूल ही होना चाहिये।

औपन्यासिक सूत्र—यहीं किंचित औपन्यासिक सूत्र को स्पष्टतः समझ लिया जाय। उपन्यास में घटनाओं (वस्तु), पात्रों, तथा देश-काल (पृष्ठभूमि) अथवा परिस्थिति या वातावरण इन तीनों तत्त्वों का अपना निजी तारतम्य भी होता है; और परस्पर एक दूसरे से ग्रथित और गुम्फित तारतम्य भी होता है। यही ग्रथित तथा गुम्फित तारतम्य ही 'औपन्यासिक सूत्र' कहा जाता है। आलोचना-शास्त्र में इसमें से प्रत्येक के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिये।

औपन्यासिक विधान—इन सब के बाद किन्तु महत्त्व में जो कम नहीं वह औपन्यासिक विधान है। औपन्यासिक विधान ही किसी कथा को उपन्यास का रूप देता है। 'कथावस्तु' को एक विशेष रूप में उपन्यासों में विन्यस्त किया जाता है।

इस विन्यास के वैशिष्टय को लाला श्रीनिवासदास ने भी लक्ष्य किया था, और अपने उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में उसका उल्लेख भी किया था। उपन्यास के विधान में समस्त कथावस्तु कई अध्यायों में विभक्त की जाती है। ये अध्याय कथा सरित्सागर की तरंगों की भाँति कथा के विस्तार को क्रमशः नहीं प्रस्तुत करते। पहले अध्याय में एक कथा, उसका भी आरंभ एक अद्भुत ढंग से, दूसरे अध्याय में कोई और कथा एक अद्भुत ढंग से, तब संभवतः आगे कहीं पहले अध्याय की कथा के सूत्र का दूसरा अंश आता है।

प्रश्न यह है कि उपन्यासकार अपना कथा-विधान सीधे रूप में क्यों नहीं रखता, उसमें वैचित्र्य क्यों प्रस्तुत करता है ? प्रथमतः तो उपन्यासकार यह वैचित्र्य इसलिए प्रस्तुत करता है कि वह उपन्यास की मूल भावना 'रोमांस' या औत्सुक्य या 'विलक्षणता' को बनाये रखना चाहता है । दूसरे वह यह विश्वास करता है कि घटनाएँ मानव के लिए प्रेरणाएँ भी हैं, पृष्ठभूमि भी हैं, और आवरण भी । वह मानव को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करना चाहता है ।

इस समस्त मौलिक तात्विकता के साथ यह कहना होगा कि उपन्यासकार अपने धर्म की भी दृष्टि से उपन्यास को अधिक रोचक बनाने के लिए ही रहस्य और रोमांच का उपयोग करता है । पर इस उपन्यास-विधान का अध्ययन भी आवश्यक है, और उसमें अपनाये सिद्धान्त को अथवा उपन्यासकार की मनोवृत्ति के स्वरूप को भी समझना होता है । यह प्रतीत होता है कि एक अध्याय में भावनाओं का वेग अत्यन्त तीव्र होकर जब शमित होने लगता है तभी उपन्यासकार उसे समाप्त कर देता है, और नयी कथांश को तीव्रता लाने के लिए संयोजित करता है, वह नया उद्योग भी जब तीव्रतम स्थिति पर पहुँचता है, तभी तीसरा सूत्र छेड़ देता है । किस अध्याय में क्या है इसका क्रमबद्ध अध्ययन अपेक्षित है । इसे चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है । उदाहरणार्थ हम 'मृगनयनी' के उपन्यास-विधान को एक चित्र द्वारा यों समझ सकते हैं :—

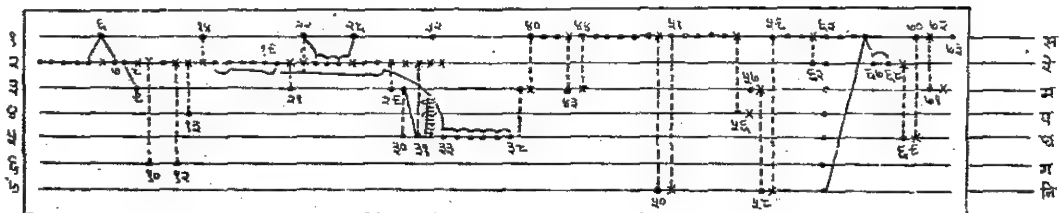
"समस्त कथा में प्रायः सात स्थान आये हैं अथवा उनसे संबंधित सूत्र आये हैं । ये हैं, चित्र में क्रमशः १–ग्वालियर, २–राई, ३–मांडू, ४–चंदेरी, ५–नरवर, ६–मालवा, ७–दिल्ली-आगरा ।

१—ग्वालियर का सूत्र राजा मानसिंह-विजयजंगम-बैजू-निहालसिंह-कला का सूत्र है २६ वें अध्याय तक, इसके उपरान्त मृगनयनी, अटल और लाखी का भी।

२—राई का सूत्र है पहले मृगनयनी, अटल, लाखी, बोधन का, फिर अटल, लाखी का ही ।

३—मांडू का सूत्र है—गियासुद्दीन-मटरू-नासिरुद्दीन-मटरू का

४—चंदेरी का सूत्र है—कला-राजसिंह का



१ मानसिंह	—१ ग्वा०	
२ { अटलखाँ मृगनयनी	—२ राई	
३ गियासुद्दीन	—३ मांडू	
४ राजसिंह-कला	—४ चंदेरी	
५ राजसिंह-मान	—५ नरवर	
६ अघारी	—६ मालवा	
७ सिकन्दर लोदी	—७ दिल्ली आ०	

५—नरवर का सूत्र है—लाखी-अटल तथा मानसिंह का, अंत में राजसिंह-कला का

६—मालवा का सूत्र है—बघर्रा का

७—दिल्ली आगरे का सूत्र स्थानीय सूत्र न होकर सुल्तान सिकंदर लोदी का है

उपन्यास के किस अध्याय में किस सूत्र का वृत्त है यह चित्र में बिन्दु से दिखाया गया है। इस विधि से एक दृष्टि में यह देखा जा सकता है कि मुख्य कथा-वस्तु से कब कब लेखक विरक्त हुआ है—और तब ऊपर के विवेचन से उसे मिलाकर उपन्यास का संपूर्ण विधान हृदयंगम किया जा सकता है।

एक बात चित्र को देखकर यहाँ अनायास ही उदय होती है—वह यह कि लेखक संगीत कला से कुछ इतना आकृष्ट हुआ है कि उसके उपन्यास में स्थान और कथासूत्र के सात ही ग्राम बनते हैं, जिसमें बघर्रा का स्वर निश्चय ही 'गांधार' है।"

वस्तु-विधान की दृष्टि से और उपन्यास-विधान की दृष्टि से भी वस्तुओं के विविध प्रकार की संयोजना पर भी ध्यान देना होता है। उपन्यास में एक वस्तु तो प्रधान या मुख्य होती है। इस प्रधान-वस्तु के साथ होती हैं, उसकी सहायक वस्तु। सहायक वस्तु आदि से अन्त तक मुख्य कथावस्तु से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती है, और मुख्य कथावस्तु की पूर्ति करती है।

एक प्रासंगिक वस्तु भी होती है, यह अपना पूर्णतः स्वतंत्र अस्तित्व रखती है, किन्तु मुख्य वस्तु के सूत्रों की प्रगति में कभी-कभी सहायक होती हैं।

अधिकारी या प्रधान वस्तु के विरुद्ध या संघर्ष में खड़ी होने वाली वस्तु प्रतिवस्तु होती है। उसकी सहायक वस्तु सहायक प्रतिवस्तु होती है।

इसके अतिरिक्त नाटकीय पताका की भाँति कुछ छोटे कथासूत्र भी होते हैं। ये टूटने वाले तारों की भाँति चमक कर अथवा रास्ता काट कर निकल जाते है।

पात्र—पात्रों को वास्तविकता के परिधान से वेष्टित होना चाहिये। उनके साथ हमारी हार्दिक सहानुभूति हो जानी चाहिये। सांसारिक जीवों के समान ही यदि उपन्यास के पात्र हमारे स्नेह या घृणा के पात्र न बन सके तो

उपन्यासकार असफल कहा जायगा। अलौकिककला[1] तथा निर्जीवता पात्रों के व्यक्तित्व का साधारणीकरण नहीं होने देती। वे हमारे राग-विराग के पात्र नहीं बन पाते। पात्र-निर्माण में लेखक की कल्पना-शक्ति की परीक्षा होती है। इसी शक्ति के द्वारा पात्रों का व्यक्तित्व ऐसा बन जाता है कि वे हमें आकर्षित करते हैं। थैकरे ने कहा था कि *"मैं अपने पात्रों का अनुशासन करने में असमर्थ हो जाता हूँ। वे मुझे जहाँ चाहते हैं ले जाते हैं।"* इसमें तथ्य इतना ही है कि पात्रों को लेखक ने स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति से सम्पन्न कर दिया है। स्वतन्त्र मनोवेगों से प्रेरित होकर कभी-कभी वे ऐसे कार्य कर जाते हैं कि जिनका लेखक को अनुमान भी नहीं होता, यह कल्पना-शक्ति की चरम सीमा है। ऐसे ही पात्र हमारे जीवन में प्रेरक बन जाते हैं। परन्तु जो पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं उनके व्यक्तित्व में गरिमा नहीं रह जाती। मानवता की सामान्य भूमि पर लेखक कल्पना की कूँची से जो रंग भरता है वह रंग अव्याप्ति व अतिरंजना से बचाकर सजीव पात्रों को जन्म देता है। सजीव पात्र हमारे वास्तविक जगत् की प्रतिकृति होते हैं जिनके चरित्र के विकास को उपन्यासकार कल्पना के द्वारा साक्षात्कार कर लेता है और उसे औपन्यासिक योजना के द्वारा प्रस्तुत कर देता है। चरित्र के विकास को वस्तु के द्वारा व्याख्या करना ही चरित्र-चित्रण कहलाता है। प्रत्येक पात्र का एक आन्तरिक केन्द्र होता है, वह अत्यन्त गुह्य रहता है। पात्रों के आचरणों से उसकी गूढ़-ध्वनि व्यंजित होती है। यह केन्द्र अविचलित रहता है। उसके आचरण में पल-पल परिवर्तन हो सकता है, उनमें विरोध और विसंगति भी हो सकती है, पर केन्द्र की दृष्टि से उनमें पूर्ण संगति रहती है। चरित्र-विकास के कारण

---

१. अलौकिक के अर्थ है, अपौरुषेय, दानवीय, असम्भव, विचित्र कल्पनाओं का संयोजन। तिलिस्म तथा जादू के चमत्कार, दैवी कारनामे, ऐसी घटनाओं अथवा वर्णनों के समावेश से एक अवास्तविक और मिथ्य वातावरण पैदा हो जाता है। इससे मानवीय भावनाओं की प्रेषणीयता कम हो जाती है, यही साधारणीकरण में बाधा डालती है।

ही उपन्यास में पात्रों का तारतम्य बनता है। उपन्यास में पात्र ही विशेष महत्व की वस्तु हैं, उन्ही के चित्रण में उपन्यासकार की पैठ विदित होती है। तो पात्र के केन्द्र, उसके आचरण, कर्म और वचन, उसकी परिस्थितियों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया सबसे पात्र का व्यक्तित्व निर्मित होता है।

पात्रों के चरित्र-चित्रण की दो विधियाँ आज प्रचलित हैं। १. विश्लेषणात्मक या साक्षात् (Analytic) तथा २. नाटकीय। (Dramatic)। प्रथम में लेखक स्वयं-प्रकाशन-विधि से पात्रों के चरित्र पर स्वयं प्रकाश डालता है। लेखक अपने शब्दों में पात्रों तथा घटनाओं का विवरण तथा उन पर मन्तव्य भी प्रकट कर देता है। दूसरे प्रकार में पात्र स्वयं वार्तालाप करते हैं। इसी पारस्परिक वार्तालाप से उनकी मनोवृत्ति का तथा उनकी विशेषताओं का पता पाठक को लग जाता है। इस विधि में पात्र का चरित्र ही स्वयं अपने को अनावृत करता है।

प्रायः नाटकीय शैली उत्तम मानी जाती है। साधारणतः उपन्यास में दोनों का उचित समन्वय रहा करता है। जो बात वार्तालाप से स्पष्ट नहीं हो पाती लेखक उसे स्वयं कथन से स्पष्ट करके आगे बढ़ जाता है। केवल एक प्रणाली का अवलम्बन एकांगिता ला देता है। उपन्यास की कथा कहने के प्रायः तीन ढंग प्रचलित हैं। इन्हें उपन्यास-लेखन की शैलियाँ भी कह सकते हैं।

१. ऐतिहासिक या अन्य पुरुष वाचक—इस शैली में लेखक स्वयं विवरण देता है।

२. उत्तम पुरुषवाचक—इसमें उपन्यास का 'नायक' अपने वृत्त को उपन्यास के रूप में देता है, अथवा विविध पात्र अपना-अपना वृत इस विधि से प्रस्तुत करते हैं कि वे एक-दूसरे के पूरक होकर कथानक और औपन्यासिक सूत्र को प्रतिष्ठित कर देते हैं। यह डायरी या दैनंदिनी का रूप भी ले सकता है।

३. पत्रात्मक—पात्रों में परस्पर पत्र-व्यवहार से कथा-सूत्र सम्पन्न करा दिया जाता है।

इनमें से प्रथम प्रकार में साक्षात् शैली का उपयोग होता है। दूसरे व तीसरे में नाटकीय प्रणाली का भी प्रयोग होता है।

वस्तु और पात्रों का सम्बन्ध—उपन्यास दो प्रकार के होते हैं। १. घटना-प्रधान २. पात्र-प्रधान। घटना-प्रधान उपन्यासों में केवल कथा का आकर्षण रहता है, पात्रों के व्यक्तित्व का नहीं। लेखक कठपुतली की तरह पात्रों को नचाता है, घटनाओं के जाल में पात्रों का दम घुट जाता है। दूसरे में पात्रों की प्रधानता रहती है। ऐसे उपन्यासों का उद्देश्य चरित्र-चित्रण होता है, अतः निश्चय ही ये उपन्यास मार्मिक व उच्चकोटि के होते हैं। प्रायः वस्तु व पात्र में विरोध रहता है। जहाँ वस्तु का अधिक ध्यान रखा जायगा वहाँ चरित्र-चित्रण नहीं हो पायेगा। किन्तु उधर, जहाँ चरित्र-चित्रण पर ही अधिक ध्यान होता है वहाँ चरित्र में असंगति आने लगती है और उपन्यास मनोविज्ञान का रूप ग्रहण करने लगता है। अतः आदर्श उपन्यास वही हैं जिसमें चरित्र का क्रमशः विकास हो और तदनुसार घटना-चक्र भी अग्रसर हो। दोनों का उचित समन्वय आदर्श उपन्यास के लिए वांछनीय है।

नायक—नाटकों की भाँति उपन्यासों में भी एक पात्र प्रमुख हो जाता है, और वह नायक कहलाता है। नायक से सम्बन्ध रखने वाला कथा-सूत्र मुख्य-वस्तु कहा जायगा, अन्य सूत्र प्रासंगिक वस्तु कहे जायँगे। नाटकों की भाँति उपन्यासों में भी छोटे-छोते सहायक कथा-वृत्त हो सकते हैं, जो पताका-प्रकरी का कार्य करते हैं। नायक के चरित्र-विकास का सम्बन्ध इन समस्त पताका-प्रकरियों से सीधा नही होता।

उपन्यास के नायक के सम्बन्ध में एक बात यह विशेष द्रष्टव्य प्रतीत होती है कि ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त साधारणतः उपन्यास का नायक राजा अथवा राजकीय पुरुष नहीं होता, उपन्यास में समाज का साधारण पुरुष का प्रतिनिधि ही प्रायः नायक होता है। उपन्यास के नायक के निर्वाचन में लेखक के समय की सामाजिक स्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है, क्योंकि उसी से उसका दृष्टिकोण भी बनता है। भारतेन्दु जी के समय में सुधारवादी युग था, इसमें समाज के धनी वर्ग की ओर विशेष दृष्टि थी, अतः प्रधान पात्र बहुधा सेठ-साहूकारों में से होते थे। प्रेमचन्द जी का युग राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ सुधार की भावना को लिये हुए था। इसमें एक ओर तो भारतीय राष्ट्रीयता के विघातक सरकारी नौकरों का दल था जो ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधित्व

करते थे, और दूसरी ओर भारत के जमींदार-किसान, मजदूर तथा पूँजीपति थे। इन्हीं वर्गों में से पात्र चुने गये।

ऐतिहासिक उपन्यासों में भी सदा राजा-महाराजाओं को ही प्रमुख स्थान नहीं मिला, उनके सामन्तों को भी नायकत्व दिया गया। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त सामन्त ही नायक है।

उपन्यासों के पात्र-चित्रण में आज उपन्यासकार को मनोविज्ञान का यथार्थ स्वरूप ध्यान में रखना होता है। मनुष्य और उसकी आज की जटिल-से-जटिल परिस्थितियों के कारण मनुष्य का मन और मनुष्य का चरित्र गम्भीर अध्ययन की वस्तु बन गया है। इन सभी का सूक्ष्म निरीक्षण करके उपन्यास-कार अपने चरित्रों की सृष्टि करता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों के पात्रों में मन की गति को समझने की प्रधान कसौटी संघर्ष होता है। यह संघर्ष केवल स्थूल स्वार्थों का ही नहीं होता, सूक्ष्म विचारों तथा मनोभावों का भी होता है, मनोभावों और विचारों के मौलिक आधारों का भी होता है। जितना ही सूक्ष्म संघर्ष पात्रों में दिखाया जा सकता है, उतना ही उपन्यासकार उच्च होता है।

इस संघर्ष का स्वरूप कुछ पात्रों की प्रकृति पर निर्भर होता है। प्रकृति के यों तो अनन्त भेद हैं, जिन्हें प्रतिभाशाली उपन्यासकार अगणित पात्रों में स्पष्ट करके दिखाता है, फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए कुछ प्रकृतियों का विशेष वर्गीकरण और नामकरण कर दिया है—इनमें से एक भेद है आत्म निष्ठ और बहिर्गत प्रकृति का। आत्म-निष्ठ अपने में केन्द्रित रहता है, बहिर्गत अपनी चिन्ता न करके दूसरे की फिक्र करता है, 'काजी जी क्यों लटे, शहर के अंदेसे।'

दूसरी दृष्टि से एक भेद आत्म-पीड़क और पर-पीड़क का होता है। आत्म-पीड़क व्यक्ति स्वयं कष्ट उठाने में आनन्द प्राप्त करता है, पर-पीड़क दूसरों को कष्ट देने में सुखी होता है। यथार्थवादी और आदर्शवादी पात्रों का भी मनोविज्ञान भिन्न होता है।

पात्रों के चित्रण के सम्बन्ध में मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis)

शास्त्र के उद्‌भव से एक और जटिलता बढ़ गयी है। पात्र केवल अपने चेतन मन से ही संचालित नहीं होता, उसका अवचेतन भी उसको बहुत प्रेरित करता है। इससे कई प्रकृतियों का पता चला—ऐसे पात्र, जो मूल काम के दमित भाव से अनुप्राणित होते हैं, वे एक कोटि के हैं, तथा दूसरी कोटि के वे जो हीन अथवा उच्च भाव मण्डल (Complex) से युक्त होते हैं।

इस प्रकार आज पात्रों का अध्ययन बड़ा रोचक हो गया है, उपन्यासकार विशेष प्रकार के व्यक्तित्वों को छाँटकर ले आता है, और उपन्यास में सँजो देता है।

कथोपकथन

उपन्यास के पात्र मनुष्य होते हैं, अतः बातचीत की कसौटी मनुष्य की बातचीत की स्वाभाविकता पर निर्भर करती है। अर्थात् वह पात्र के उपयुक्त हो और उस परिस्थिति विशेष में संगत तथा सहज प्रतीत हो, उसमें अवांछनीय कृत्रिमता न हो। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह नीरस हो जाय। पर्याप्त रमणीयता के बिना उपन्यास कला की हेयता प्रकट हुए बिना न रहेगी। वास्तविकता व रमणीयता दोनों का निर्वाह कुशल लेखक ही कर सकता है। यदि लेखक साधारण बातचीत का वर्णन विशद कर देगा तो नीरसता आ जायगी और यदि काव्यमय नाटकीयता का अत्यधिक प्रयोग करेगा तो स्वाभाविकता न रहेगी।

निरर्थक कथोपकथन से बचना चाहिये। कथोपकथन में वार्ता का उतना ही प्रयोग इच्छित है जितने से कथा की संगति व क्रम स्पष्ट होता जाय और पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता चले। प्रभाव अन्विति की ओर बढ़ना ही कथोपकथन का लक्ष्य है। इस प्रभावान्विति (Unity of impression) पर कथोपकथन से आघात न होना चाहिये।

वैयक्तिकता की रक्षा भी परमावश्यक है। कथोपकथन को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अमुक लेखक कह रहा है। 'चित्रलेखा', 'सुनीता, 'संन्यासी' और 'गोदान' के कथोपकथनों को पढ़कर सहज ही लेखक के

व्यक्तित्व व दृष्टिकोण का पता लग जाता है। किन्तु इससे भी अधिक कथोपकथन से यह भी प्रकट हो जाना चाहिये कि यह किस पात्र का उद्गार है। यह बात कभी न भूली जानी चाहिये कि कथोपकथन पात्र के चरित्र का अनिवार्य अंग ही नहीं अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। अतः पात्र के प्रत्येक शब्द में उसका चरित्र झलकना चाहिये।

पात्रों की बातची में सुबोधता, सरसता, स्पष्टता, मनोहारिता अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना वार्तालाप कृत्रिम, नीरस तथा अनुपयुक्त प्रतीत होगा। कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य वस्तु का विकास तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण है। कुछ लेखक चरित्र-चित्रण की धुन में सिद्धान्तों की घोषणा करने लगते हैं। अपने लम्बे कथन को उद्धरण चिह्नों में बैठाकर महान् बना देने का प्रयत्न करते हैं, ऐसा करना वार्तालाप की कला के विरुद्ध है।

देश-काल-परिस्थिति-वातावरण

"उपन्यास भगवान के समान देश-काल से परे न हों।" स्टीवेंशन ने लिखा था :—

"Certain dark gardens cry aloud for murder, certain old houses demand to be haunted, certain coasts are set apart for shipwreck."

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में देश-काल का ध्यान नहीं रखा गया, अतः उनके पात्र शून्य में खड़े प्रतीत होते हैं।

उपन्यास में पात्रों के आचार-विचार, रीति-नीति, रहन-सहन तथा बाह्य परिस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। यह परिस्थितियाँ भी दो भागों में बाँटी जा सकती है—

१. सामाजिक ; २. ऐतिहासिक।

ऐसा उपन्यास लिखना कठिन है जिसमें समाज के सभी अंगों का समावेश हो, सभी स्वरूप स्पष्ट हों। साधारणतया उपन्यासों में समाज के दो-एक अंगों का ही चित्रण रहता है। किसी में गृहस्थ-सम्बन्धी तथा किसी में ऐतिहासिक

उत्थान-पतन-सम्बन्धी घटनाओं का समावेश रहता है। बहुत-से उपन्यास केवल इसलिए मनोरंजक होते हैं कि उनमें किसी विशिष्ट वर्ग या देश के किसी विशिष्ट भाग का यथातथ्य चित्रण होता है। आधुनिक कथा-साहित्य की प्रवृत्ति इस विशिष्टता की ओर अधिक है। पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य में भौगोलिक वर्गीकरण भी होते हैं––जैसे स्काच उपन्यास, आयरिश उपन्यास एवं वैसेक्स उपन्यास। हिन्दी में भी बुन्देलखंडी उपन्यास वृन्दावनलाल वर्मा ने लिखे हैं।

बाह्य प्रकृति का चित्रण भी इसमें आता है। यह वर्णन सच्चा हो, कल्पनाओं या स्वप्नों से परिपूर्ण न हो। लेखक को उस भूमि, उस वन तथा उस प्रदेश की प्रगति से पूर्ण परिचित होना चाहिये जिसे लेखक ने अपने उपन्यास का रंगमंच बनाया है। प्रकृति का वर्णन कई प्रकार से हो रहा है––१. विरोध या साम्य प्रणाली से–इसमें प्रकृति विपत्ति के समय सहानुभूति या तटस्थता दिखाती है। हार्डी के उपन्यासों में प्रायः संवेदनहीन प्रकृति का वर्णन मिलता है। मानव के राग-विराग का उस पर कोई प्रभाव ही नहीं दिखायी पड़ता। २. पार्श्व भूमि के रूप में––प्रायः उपन्यासकार इसका अधिक उपयोग करते हैं। कुछ लेखक भूमिका के रूप में या घटना के आरम्भ के प्रथम इस प्रकार के वर्णन पर अधिक बल देते हैं। परन्तु अतिवाद कला की संगति को बिगाड़ने का कारण बन जाता है। ३. प्रेरणा अथवा आदर्श चेतना के रूप में––मन के संघर्ष की उस जटिल स्थिति में, जब कि द्विविधा का समाधान ही नहीं मिलता, प्रकृति का कोई व्यापार दिखायी पड़ता है और उससे यथार्थ मार्ग की अनुभूति होती है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का सबसे अधिक ध्यान रखना पड़ता है। वास्तव में इन उपन्यासों के लेखक की सफलता ही इस बात में निहित रहती है कि वे जहाँ तक हो अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग करके तत्कालिक परिस्थिति का विम्ब ग्रहण करादें। ऐतिहासिक घटना-क्रम में असत्य व अप्रामाणिक घटनाओं की भरमार यहाँ नहीं हो सकती। अकबर के हाथ में ग्रामोफोन और विक्रमादित्य के शीश पर तुर्की टोपी नहीं रखी जा सकती। अयोध्या में करील और वृन्दावन में देवदारु के वृक्षों का वर्णन नहीं हो

सकता। ऐतिहासिक उपन्यासों में राखालदास वन्द्योपाध्याय के 'करुणा' व 'शशांक' ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनमें प्राचीन समय के आचार-विचार, राजकीय परिस्थिति, रीति-नीति, संस्कृति-सभ्यता आदि का पूर्ण दिग्दर्शन कराया गया है। अब यदि कोई लेखक वर्तमान वातावरण और परिस्थितियों की भूमिका देकर आज से ४००० वर्ष पूर्व की घटनाओं का वर्णन करे तो वह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हो सकता। इससे उस समय का जीता-जागता चित्र उपस्थित नहीं होगा जो कि ऐतिहासिक उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।

उद्देश्य

उपन्यास के बिखरे विचारों में एक अन्विति रहनी चाहिये। प्रायः लेखक व उपन्यास के नायक का तादात्म्य रहता है। रामचन्द्र व वशिष्ठ के साथ तुलसी का तादात्म्य है। लेखक की जीवन के सम्बन्ध में जो धारणाएँ होती हैं वे उपन्यासों में व्यक्त होती हैं। साहित्य का उद्देश्य ही जीवन की व्याख्या है। परन्तु जब लेखक किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रचार के लिए लिखता है तो कला का पूर्ण उत्कर्ष नहीं हो पाता। सिद्धान्तों का सिंहनाद नहीं होना चाहिये। वे तो अपने-आप अभिव्यंजित हो जाते हैं। छोटी से छोटी कहानी में भी कोई-न-कोई नैतिक समर्थन मिलता ही है।

कुछ विद्वान उपन्यास को केवल मनोरंजन तथा दिलबहलाव का साधन समझते हैं। उनके अनुसार गम्भीर तत्त्वों का विवेचन व्यर्थ ही नहीं उपन्यासों के लिए हानिकर भी है। परन्तु उच्चकोटि के उपन्यासों में पूर्ण जीवन की व्याख्या होती है। मनोरंजन के साथ-साथ वहाँ जीवन-सम्बन्धी कुछ तत्त्व अवश्य मिलते हैं, पर वे प्रचारित नहीं किये जाते। उपदेशक और कलाकार में यही अन्तर है। उपदेशक अपने उद्देश्य का प्रचार करता है, कलाकार उसे ध्वनित करता है। वृक्ष में हरियाली की तरह वह सर्वत्र व्याप्त रहता है। उपन्यासकार कल्पना की सहायता से संसार का एक सूक्ष्म और संकेत रूप ऐसे ढंग से अंकित करते हैं जिससे कुछ नैतिक-सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण व कथानक के विकास से यह उद्देश्य पूरा किया जाता है, वह भी इतनी कलात्मकता के साथ कि घोषणा न बन जाय।

कभी-कभी लेखक अपने सिद्धान्त को थोपने के लिए पात्रों के चरित्र के विकास की भी चिंता नहीं करते। पात्र के उत्थान-पतन में केवल कोई सिद्धान्त काम करता दिखायी पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में उत्थान-पतन के बीच में पर्याप्त समय देना चाहिये ताकि वह सिद्धान्त जीवन में अनुभूत सत्य बन सके। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि लेखक को अपने उद्देश्य की घोषणा नहीं करनी चाहिये।

उपन्यास में सत्य

उपन्यास में वैज्ञानिक सत्य व्यक्त नहीं हो सकता। कोई उपन्यास आदि से अन्त तक सच्ची घटनाओं के आधार पर नहीं होता। उसकी अधिकांश बातें कल्पना से उद्‌भूत होती हैं। परन्तु उसमें व्यापक सत्य अन्तर्निहित रहता है। जो हो रहा है या हुआ है वही सत्य नहीं है, जो हो सकता है वह भी सत्य है। इस प्रकार सम्भावित सत्य ही उपन्यास का उद्देश्य है। विज्ञान ज्ञान का और साहित्य शक्ति का साहित्य है। ज्ञान का साहित्य समय द्वारा पीछे छूट जाता है परन्तु शक्ति का साहित्य शाश्वत है। 'शकुन्तला' 'रघुवंश,' 'गोदान', 'रामचरितमानस' तथा 'कामायनी' में जो सत्य है वह अजर-अमर है। एक विद्वान् ने लिखा है—

"उपन्यासों में नामों व तिथियों के अतिरिक्त सब बातें सच्ची हैं, और इतिहासों में नामों व तिथियों के अतिरिक्त सब बातें झूठी हैं।" इस उक्ति का अर्थ यही नहीं है कि उपन्यासों में शाश्वत सत्य रहता है वरन् यह है कि उपन्यास की समस्त वस्तु ही सत्य पर निर्भर करती है—सत्य जिसे हम यथार्थ कहते हैं। उपन्यास की प्रामाणिकता ही उसका सत्य है, जबकि इतिहास की प्रामाणिकता कोई बाहरी साक्षी है। सत्य की परिभाषा पर भी मतभेद हो सकता है, किन्तु यह स्पष्ट है कि जो जिसको यथार्थ प्रतीत होता है वह उसका सत्य है। कल्पना तो एक साधन है, वह जो चित्र खींचती है, वह यथार्थ सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। सत्य को ही साहित्यकार अपनाता है। घटनाएँ, क्रियाएँ अवस्थाएँ, बातें—सभी का उपन्यासकर कल्पना के द्वारा साक्षात्कार करता है, यह साक्षात्कार उसकी कल्पना की शक्ति भर सत्य होता है, तभी पूर्ण विश्वास के साथ उपन्यासकार उसे प्रस्तुत कर पाता है। इस सत्य को अभिव्यक्त करने

के लिए उपन्यासकार को कल्पित नाम-रूपों की अवतारणा यदि करनी पड़ती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उपन्यास नितान्त असत्य पर आधारित है। जो बात सम्भव है, जो किसी-न-किसी रूप में वास्तव में होती है, वही उपन्यास में स्थान पाती है। दूसरी दृष्टि से कल्पना व वास्तविकता दोनों ही उपन्यासों में स्थान पाती हैं। वास्तविकता तो इसलिए रहती है कि दृश्यमान जगत में होनेवाली घटनाओं से वह चित्र मिलता-जुलता है; और कल्पना इसलिए रहती है कि वास्तव में जो पात्र-घटनादि हमें लेखक ने दिये हैं वे उस समय उसी रूप में कहीं थे, ऐसा नहीं है। इस प्रकार वास्तविकता व कल्पना का मिश्रण ही उपन्यास को श्रेष्ठ बनाता है।

शैली—किसी भी रचना में लेखक की शैली एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। शैली के द्वारा ही लेखक अपनी रचना में अपनी अवतारणा करता है, जिससे उसकी रचना उसी की आत्माभिव्यक्ति कहला सके। उपन्यासों में शैली और भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

शैली का सम्बन्ध वस्तु-चयन, उसके गठन, पात्र-संयोजना, उनके वार्तालाप, उपन्यास की पृष्ठभूमि, उपन्यास की कला इन सभी से है, किन्तु जिसे विशेषतः शैली कहते हैं उसका सम्बन्ध भाषा तथा भावों की अभिव्यक्ति के प्रकार से होता है। उपन्यासों के आरम्भ और अन्त का प्रकार भी शैली के अन्तर्गत आयेगा।

उपन्यासों की भाषा शैली के सम्बन्ध में सबसे प्रमुख बात तो यह है कि वह सुबोध होनी चाहिये। सरसता सुबोधता की भाँति ही आवश्यक है। यह सरसता भावमय स्पर्शों और काव्यमय उक्तियों के समावेश से भी आ सकती है और चरित्र के उद्घाटन में रोचक मनोवैज्ञानिक भाव-ग्रन्थियों के वर्णन और समाधान से भी आ सकती है। भावुक-स्पर्श जहाँ-तहाँ ही देने ठीक होते हैं, इसी प्रकार काव्यगत उक्तियों का भी विधान उचित अवसरों पर ही शोभा बढ़ाता है। कथोपकथन में पात्रानुकूलता बहुत आवश्यक है, किन्तु तत्पर-उक्ति-चमत्कार (Wit) का प्रयोग किसी सीमा तक सदा मन को फड़काने वाला होता है। कथनों में नाटकीयता से भी प्रभाव पड़ता है।

उपन्यासों की शैली में ओज तो होना चाहिये, पर वक्तृत्व का जोश नहीं;

वर्णन और विवरण की कला अपने उत्कृष्टतम रूप में उपन्यास में प्रकट होती है। वाक्य-योजना में प्रवाह होना चाहिये, पर गति तीव्र न हो। वर्णन और विवरण पूर्ण विस्तार से किये जाने चाहिये कि उनसे वर्ण्य वस्तुओं के चित्र खड़े हो जायँ। उनमें सजीवता भी हो।

हिन्दी उपन्यासों में भी नाटकों की भाँति भाषा का प्रश्न कुछ जटिल रूप धारण कर लेता है। एक ओर साहित्यक हिन्दी है, संस्कृत तत्समता से परिष्कृत, इसे अंग्रेजों ने उच्च हिन्दी (High Hindi) नाम दिया। दूसरी ओर बोल-चाल की सरल और श्रेष्ठ हिन्दी है। हिन्दुस्तानी भी है, जिसमें अरबी-फारसी शब्दों का समावेश होता है; और उर्दू भी है अरबी-फारसी की शैली में ढली हुई हिन्दी। ग्रामीण भाषाओं की भी कमी नहीं—हिन्दी-क्षेत्र में कितनी ही भाषा और बोलियों के जनपद बताये गये हैं। हिन्दुस्तानी की भाँति इंग्लिस्तानी भाषा का भी अस्तित्व है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अधिकांश अंग्रेजी पढ़े-लिखे इंग्लिस्तानी का ही उपयोग करते हैं। वस्तुतः हिन्दी के उपन्यास हिन्दी के हैं, वे हिन्दी में लिखे जाने चाहिये, पर देश-काल के भेद का अन्तर और पात्रों के व्यक्तित्वों का भेद दिखाने के लिए भाषा में आवश्यकतानुसार संशोधन किया जा सकता है। इससे उपन्यास में यथार्थता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है। क्षेत्रीय उपन्यासों की भाषा में क्षेत्रीयता एक सीमा तक ठीक है।

हिन्दी में उपन्यासों का वर्गीकरण तथा साहित्यिक सौन्दर्य

उपन्यासों के प्रकार—वस्तु विकास के लक्ष्य के अनुसार उपन्यास दो प्रकार के ही होते हैं।

(१) घटना-प्रधान। यथा—'चन्द्रकान्ता-सन्तति' जैसे तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यास आदि।

(२) चरित्र-प्रधान। यथा—'गोदान,' 'सुनीता' आदि।

किन्तु आज अधिकतर उपन्यासों में दोनों का मिश्रण रहता हैं।

शैली की दृष्टि से वर्गीकरण

(१) **अन्य पुरुष वाचक**—लेखक अपने शब्दों में उपन्यास की वस्तु प्रस्तुत करता है। यथा—प्रेमचन्द के सभी उपन्यास, 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष,' 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते,' 'सुनीता' आदि।

(२) उत्तम पुरुषवाचक या आत्म-चरित्रात्मक—इसमें आत्मकथा की शैली के उपन्यास आते हैं। यथा—'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हजारीप्रसाद द्विवेदी) 'वह जो मैंने देखा' (उदयशंकर भट्ट), शेखर : 'एक जीवनी' (अज्ञेय)।

(३) पत्रात्मक शैली—यथा—'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र)।

इनमें प्रथम प्रकार के उपन्यास ही अधिक लिखे गये हैं। केवल प्रयोग के लिए ही अन्य दो शैलियों में उपन्यास लिखे गये हैं। पत्रात्मक शैली का तो प्रयोग ही बन्द-सा है।

वस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार

(१) घटना-प्रधान—गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री आदि के उपन्यास। इनमें घटनाओं का घटाटोप रहता है, पात्र का व्यक्तित्व गौण हो जाते हैं।

(२) सामाजिक सम्बन्ध-प्रधान—'सेवा सदन,' 'निर्मला,' माँ,' भिखारिणी' आदि। समाज में व्यक्तिगत तथा समाजगत कितने ही प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, घर और कुटुम्ब के सम्बन्ध, पड़ोसियों और मित्रों के सम्बन्ध, समाज के अवयवों तथा मुखियों के सम्बन्ध—ऐसे सभी सामाजिक सम्बन्ध इन उपन्यासों की वस्तु में आते हैं।

(३) वर्गों की पारस्परिक स्थिति-प्रदर्शक—'रंगभूमि,' 'कर्मभूमि,' 'कंकाल,' 'तितली' वर्गों के निर्माण में या तो धर्म तथा रक्त सम्बन्ध रहता है या आर्थिक। आधुनिक युग में वर्ग अर्थ के आधार पर बने हैं—मजदूर-पूँजीपति, राजा-प्रजा, शोषक-शोषित, हिन्दू-मुसलमान आदि इन उपन्यासों के विषय बनते हैं।

(४) अन्तर्वृत्ति व शील-वैचित्र्य—'सुनीता,' 'संन्यासी'। मानव के आचरण और व्यापारों की जब साधारण मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो पाती तो उनमें किसी अन्तर्वृत्ति की सम्भावना होती है, ऐसे स्थल पर शील-वैचित्र्य होता ही है। ये उपन्यास ऐसे वैचित्र्यों को ही चित्रित करते हैं।

(५) समन्वयवादी—'राम-रहीम' (राधिकारमणप्रसाद सिंह)। ऐसे उपन्यास समन्वयवादी होते हैं। जिनमें विविधी विरोध तत्त्व, वर्ग आदि का समझौता या समन्वय हो।

(६) यथातथ्यवादी—'अज्ञेय' लिखित 'शेखर : एक जीवनी'। यथातथ्य

का अर्थ है जो बात जैसी है, वैसी ही लिखना। यों तो आजकल का प्राय: प्रत्येक उपन्यासकार यथार्थ का पोषक है, किन्तु जो इतना पदार्थवादी Materialist) हो कि दृश्यमान को ही प्रधानता दे वही यथातथ्यवादी होता है।

(७) **रमणीयतावादी**—हृदयेश के उपन्यास यथा 'मंगलप्रभात'। जिन उपन्यासों में भाषा के आलंकारिक सौष्ठव तथा मधुर कल्पनाओं तथा भावमय उक्तियों के समावेश की चेष्टा रहती है, वे रमणीयतावादी होते हैं।

(८) **ऐतिहासिक**—'गढ़ कुण्ढार','मृग नयनी,' 'झाँसी की रानी,' 'करुणा' 'शशांक','मुर्दों का टीला' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास से कथानक लिया जाता है। इनके दो प्रकार होते हैं। एक शुद्ध जिसमें इतिहास के कथानक को कथानक की रोचकता तथा महत्ता के लिए ग्रहण किया जाता है—जैसे 'झाँसी की रानी'। दूसरा ऐतिहासिक रोमांस। इन रोमांसों में ऐतिहासिक सूत्र प्रेम के प्रबल स्पन्दनों से स्पन्दित रहते हैं, जैसे 'गढ़ कुण्ढार'।

रोमांस भी उपन्यासों का ही एक प्रकार माना जाना चाहिये। इसमें शौर्य, साहस तथा प्रेम का गठबन्धन रहता है।

विकास-परम्परा तथा साहित्य सौन्दर्य

संस्कृत में आरम्भ—कथा-कहानी के प्रति उत्सुकता जिज्ञासा मानव-स्वभाव की तीव्र वृत्तियाँ हैं। नानी की कहानी में उपन्यासों के बीज छिपे रहते हैं। प्राचीन महाकाव्यों, इलियड, ओडेसी, रामायण आदि में भी कथा का आकर्षण चलता है। वेदों में कथाएँ भरी पड़ी है। धर्म-भावना व वीर-पूजा की भावना ने क्रमशः ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों आदि में कथा-साहित्य की सृष्टि की। देव-दानव की कथाएँ अत्यन्त आकर्षक रहीं।

तत्पश्चात् कौतुक-कथाएँ, नीति-कथाएँ और गाथाएँ चल पड़ीं। 'कथा सरित्सागर 'वैताल पञ्चविंशति','सिंहासन बत्तीसी''शुक-सप्तति' कौतुक-कथाओं के अन्तर्गत आती हैं। नीति-कथाओं में हितोपदेश व पंचतन्त्र की पशु-पक्षियों की कहानियाँ आती है।

गाथाओं में पुराणों की कथा, जैन व जातक-कथाएँ हैं। कहना न होगा कि अलिफ लैला, सिंदबाद आदि दूसरे देशों की कहानियों पर इन्हीं भारतीय कहानियों का प्रभाव है।

इसके बाद संस्कृत में साहित्यिक कहानियाँ हैं जिनमें वस्तुतः उपन्यास की परम्परा छिपी हुई है। 'दशकुमारचरित', सुबन्धु-कृत 'वासवदत्ता', बाण की 'कादम्बरी' आदि प्राचीन उपन्यास ही हैं। यद्यपि इनका यह नामकरण तब नहीं हुआ था। तब ये 'गद्य-काव्य' ही कहे जाते थे।

अतः उपन्यास का आधुनिक ढाँचा यूरोप से अवश्य आया है, परन्तु मूल रूप से भारत ने कादम्बरी-जैसे उपन्यासों को पहले ही जन्म दिया था।

हरिश्चन्द्र के पूर्व कथा-साहित्य का रूप

हिन्दी में हरिश्चन्द्र से पूर्व तक का कथा-साहित्य उपन्यास और कहानी अथवा आख्यायिका के क्षेत्र में नहीं आ सकता था। यह नहीं कि उसमें टेकनीक नहीं थी, वरन इसलिए भी कि उसमें वह भाव भी नहीं था, जो उपन्यास और कहानी में होता है। 'रानी केतकी की कहानी' में वह भाव था पर वह प्राचीन परिपाटी के ग्राम्य-संस्करण में अभिव्यक्त किया गया था। उसमें कहानी की कला और 'उन्नत मनीषी' गहराई का अभाव था। राजा शिवप्रसाद की कहानियों में एक बात यह अधिक थी कि वे सोद्देश्य, बिना परिमार्जन और शैली की सुढाल के लिखी गयी थीं, आधुनिक पाठकों के लिए हरिश्चन्द्र के समय से उपन्यास-कहानी को नया रूप मिलना आरम्भ हुआ।

भारतेन्दु-युग में हिन्दी के प्रेरणा-स्रोत

भारतेन्दुजी का जन्म १८५० ई० में हुआ। १८६८ के लगभग इनका लेखन-कार्य आरम्भ हुआ। इसी काल से हिन्दी में परिवर्तन आरम्भ हो गया। हिन्दी में वह चेतना उदय हुई जिसमें वह अपने चारों ओर की भाषाओं को देखकर अपना रूप स्थिर कर सके। उसके फलस्वरूप उसने विविध भाषाओं से सम्पर्क प्राप्त किया, उनसे प्रेरणाएँ लीं। हाँ प्रधानता दो की थी—बँगला और अँग्रेजी की। संस्कृत की ओर भी हिन्दी-लेखक आकर्षित थे। भारतेन्दुजी की तो इधर विशेष रुचि थी, वरन् वह एक प्रकार से आग्रह ही था। बहुत अनुवाद हुआ इस भाषा से। 'कादम्बरी' जैसे उपन्यास की निकटता प्राप्त करने वाले गद्य-काव्य का अनुवाद कथा-साहित्य में हुआ। नाटकों का तो भण्डार भारतेन्दुजी ने ही बहुत भर दिया था। फिर भी यह क्रम चलता रहा। पर

इस उद्योग से प्रेरणाएँ प्राप्त नहीं हुईं। नये युग के नये आदर्शों का रूप-निर्माण संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों के अनुवाद से नहीं हो सकता था। ये अनुवाद तो इसलिए हुए कि यह जान लिया जाय कि संस्कृत में इस सम्बन्ध में क्या है। एक उत्सुकता को शान्त करने के लिए, तथा प्राचीन गौरव के भाव को संतुष्ट करने के लिए ही इतना आयोजन था, इससे हिन्दी की संस्कृति की नींव दृढ़ हुई इसमें संदेह नहीं। इससे स्वाभिमान जागृत हुआ, फलतः लेखकों में आत्म-विश्वास उदय हुआ। यह स्थिति संस्कृत के अनुवादों से बनी। पर प्रेरणाएँ बँगला और अँग्रेजी से मिलीं। अँग्रेजी राज-भाषा थी, बँगला राज-भाषा से प्रसाद पा चुकी थी। अँग्रेजों के द्वारा विदेशी साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, विदेशी लोक, व्यक्ति, व्यवस्था; विदेशी रीति-नीति प्रतिभा का परिचय बँगला को ही घनिष्ठ रूप से सर्वप्रथम हुआ। और बंगालियों के मौलिक मस्तिष्क इन प्रेरणाओं से नव-सृष्टि करने में तत्पर हो गये। आगरा और काशी—दो ही क्षेत्र इस समय हिन्दी-साहित्य की अपनी भूमि थे। आगरा बहुत पश्चिम में होने के कारण अछूता (चेस्ट) पर प्रभाव शून्य था, अतः रचनाओं में मन्द भी था, वैसे वह धीर और उज्ज्वल था। काशी के किनारे पर बँगला की लहरें टकराती थीं और नवोन्मेष की ओर चाह उत्पन्न करती थीं। पहला नाटक भारतेन्दु जी ने 'विद्यासुन्दर' बँगला से लिया। इस प्रकार हिन्दी में भी नई प्रेरणाएँ उत्पन्न हुईं। उपन्यासों का आरम्भ हो गया, और नवयुग के द्वितीय उत्थान तक उपन्यासों ने हिन्दी में अपना स्थान बना लिया।

द्वितीय उत्थान के लेखक

हिन्दी के नवयुग का द्वितीय उत्थान सन् १९०० से मानना पड़ेगा। इसी सन् से 'सरस्वती'-जैसी पत्रिका का उदय हुआ; इसी सन् के आरम्भ में हमें उन लेखकों के बाल-दर्शन हुए, जो अपनी भाव-प्रणाली (idealogy) से हिन्दी के तृतीय उत्थान तक प्रमुख नियन्त्रक और भाव-निर्मायक रहे। १९०१ की 'सरस्वती' में मिश्र-बन्धुओं ने तत्कालीन कुछ लेखकों के नामों का उल्लेख किया है। वे नाम हैं—

पं० श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, मदनमोहन मालवीय, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, श्यामसुन्दरदास बी० ए०, पं०

किशोरीलाल गोस्वामी, कार्तिकप्रसाद खत्री, अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, कृष्ण बलदेव वर्मा, केशवप्रसादसिंह, अमृतलाल शर्मा, जगन्नाथदास बी० ए०, मेहता लज्जाराम, माधवप्रसाद मिश्र, तोताराम वकील, मुन्शी देवीप्रसाद, पुरोहित गोपीनाथ एम० ए०, लाला सीताराम, युगलकिशोर, देवदत्त त्रिपाठी, भैरव-प्रसाद विशाल, मिश्रबन्धु, पार्वतीनन्दन[1] आदि। इस सूची में हम देख सकते हैं कि कई नव-अवस्था के कृतिकार हैं। महावीरप्रसाद और श्यामसुन्दरदास की भाव-प्रणाली से हिन्दी ने अपना नया मार्ग निश्चित किया।

द्वितीय उत्थान में : प्रथम उत्थान के पटेबाज

इनमें कुछ पुराने युग के कर्णधार भी हैं। राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, मुन्शी देवीप्रसाद के नामों से ही भारतेन्दु का स्मरण हो आता है। इस प्रथम उत्थान में इनके अतिरिक्त श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, गदाधर-सिंह, रामाशंकर व्यास, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय भी परिगणनीय हैं; बालकृष्ण भट्ट तथा बालमुकुन्द गुप्त—ये दो भी हिन्दी के इस भारतेन्दु-युग के रूप और भाव-निर्माण के विशेष कर्णधार थे।

हिन्दी के अभाव की चेतना

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नवम्बर १८७८ ई० के अंक में यह विज्ञप्ति है—

"नाटकोपन्यास पाक्षिक पुस्तिका"

हिन्दी भाषा में नाटक और उपन्यास का सम्पूर्ण रूप से अभाव है। विशेष करके अँग्रेजी और बंग भाषा के अनुसार उत्तम नाटक आज तक बहुत ही कम प्रकाशित हुए हैं। और उपन्यासों के तो अभी तादृश स्वाद से भी हमारे देश-बान्धवगण वंचित हैं। इस हेतु ऐसा विचार किया है कि एक मासिक पुस्तिका २० पृष्ठ की हिन्दी भाषा की पूर्वोक्त नाम की प्रचलित हो और उसमें मनोहर उपन्यास और नाटक रहें······

राधाकृष्ण दास

बाबू गोपालचन्द्र की कोठी, चौखम्भा।"

---

१. पार्वतीनन्दन गिरिजाकुमार घोष का ही नाम है।

इस उद्धृत अवतरण में हिन्दी का निष्कपट अभाव दिखायी पड़ रहा है। उपन्यास थे पर उनमें बँगला-अँग्रेजी का-सा स्वाद कहाँ ? इस अभाव की पीड़ा उत्पन्न हो गयी थी। पहले अनुवादों से ही काम चलाया जा सकता था।

बँगला की साहित्य-सृष्टि : बंकिम

बंगला में वीर-चरित्र ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर विशेष झुकाव था। इनमें रोमांस का भी अभाव न था। बंगालियों का भावुक हृदय वर्तमान शासकों के शोषण और अत्याचारों से, तड़पन से भर गया था और वह साहित्य में विविध कथाओं में रूपान्तरित होकर प्रकट हो रहा था। वर्तमान निकट से पूर्व का अतीत भी मधुर न था। उसमें अनगिनत रोमांचक घटना-बिन्दु थे जिनमें उपन्यासों को कथानक मिल सकते थे। ऐसे ही विषयों से पूर्ण बँगाली उपन्यासों का अनुवाद हुआ—'दुर्गेश-नन्दिनी' 'बंग-विजेता'। बंगला में इसी समय बंकिमचन्द्र के उपन्यासों के प्रभाव से एक झुरझुरी आ गयी। बंग-भंग ने बंगालियों के मानस को निकट-पूर्व के अतीत से हटाकर वर्तमान काल के आगतों—अँग्रेजों की मीमांसा करने की प्रवृत्ति दी। वे गुलामी के दुःख से बेजार होकर उससे निकलना चाहने लगे। और वे सुगठित होने के लिए भी सन्नद्ध होने लगे। उनके वे दुःख साहित्य में राष्ट्रीय भावों को जागृत करने वाले हुए। बंकिम ने क्या-क्या न लिखा, 'देवी चौधरानी' और 'आनन्द मठ' में उन दुःखों के सुगठन का रूप भी प्रतिबिम्बित किया। पर इन सबमें वर्णन-ओज था, शक्तिमन्त प्रवाह था, रोमांस भी था। हिन्दी ने इनका अनुवाद किया पर वंगाल की इस प्रवृत्ति का उस पर कोई प्रभाव नहीं। हिन्दी के गद्य-साहित्य की धारा अलग वह रही थी।

हिन्दी में उपन्यास : नई प्रणाली : श्रीनिवास दास

टेकनीक तो बँगला और अंग्रेजी से ही ली गयी थी, पर विषय, व्यवहार और नीति से सम्बन्ध रखने वाले थे, रोमांस से बिलकुल शून्य। ऐसा 'परीक्षा-गुरु' लाला श्रीनिवासदास ने लिखा। उनका जन्म सन् १८५१ ई० में संवत् १९०८ में हुआ था; मृत्यु हुई थी संवत् १९४४, सन् १८८७ ई० में। इस काल में मौलिक उपन्यासों से हिन्दी अपरिचित थी, इस 'परीक्षा-गुरु' की भूमिका में श्रीनिवास जी ने उल्लेख किया है कि "अब तक नागरी और उर्दू भाषा में

अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परन्तु मेरे विचार में इस रीति से कोई नहीं लिखी गयी, इसलिए अपनी भाषा में ये नई चाल की पुस्तकें होंगी।"

वार्ता तथा उपन्यास की शैली का निर्धारण 'परीक्षा-गुरु'

इसमें एक और बात भी कही गयी है। वह वार्ता और उपन्यास का भेद है। हिन्दी में पहले बड़ी कहानियाँ जो उपन्यास के समकक्ष पहुँचती थीं वार्ताएँ कही जाती थीं। हम पहले देख चुके हैं कि गोसाईं गोकुलनाथ ने वार्ताओं का आरम्भ किया। इस काल में वार्ताओं का अर्थ हुआ काल्पनिक तथा मनोरंजक बड़ी कहानियाँ। ये वृत्तान्त के नाम से भी अभिहित होती थीं। इनमें सीधा-सच्चा उल्लेख रहता था। मुख्य नायक अथवा नायिका का सीधा परिचय लेखक के शब्दों में होता था। वह मूल से आरम्भ होती थी, और उसमें विविध घटनाओं का कौतूहलपूर्ण समावेश होता जाता था। वे ग्राम्य-कहानियों की शैली पर होती थीं। तो 'परीक्षा-गुरु' से उपन्यास का आरम्भ नये रूप में हुआ। अब वह वार्ता न थी, अंग्रेजी शैली का 'नोवेल', बंगाली शैली का 'उपन्यास'[1] था। इसके संक्षिप्त कथानक से पता चलेगा कि इसमें रोमांस अथवा प्रेम का किंचित् भी आभास नहीं था। "मदनमोहन एक बड़े भारी सेठ हैं, ब्रजकिशोर उनके सच्चे मित्र हैं, वे मदनमोहन के अनुचित आचरणों और विचारों की कभी ताईद नहीं करते, उन्हें धोखा नहीं देते। कुछ अन्य मित्रों ने मदनमोहन को अपने हाथों का खिलौना बना रखा है और उसे फँसाये रहते हैं कि वह अपने हानि-लाभ का विचार नहीं कर पाता। ब्रजकिशोर से वह बिगाड़ कर लेता है पर ब्रजकिशोर उसके आड़े आता है। जब मदनमोहन कर्ज की डिगरियों के चक्कर में फँसकर हवालात में बन्द कर दिये जाते हैं तो ब्रज-

१. पं० किशोरीलाल गोस्वामी जी ने इन पंक्तियों के लेखक को एक बार बतलाया था कि उपन्यास नाम का आरम्भ बंगाल के बंकिमचन्द्र ने किया था। उनका कहना है कि बंकिम बाबू उनके घनिष्ठ मित्र थे। बंकिम एक दिन हुक्का पीते-पीते मनुस्मृति पढ़ रहे थे कि उन्हें उसी में उपन्यास शब्द का पता चला और वही नाम उन्होंने ग्रहण कर लिया था।

किशोर ही सारे मामले को पटाकर उन्हें छुड़ाता है और सच्ची मित्रता सिद्ध करता है। झूठे मित्र भाग जाते हैं, काम नहीं आते।"

इस कथानक में प्रेम और प्रेम के रहस्यमय तथा बलशाली कौतुकों का कहीं इशारा भी नहीं। लेखक को चरित्र-चित्रण करने का अवकाश नहीं, वह कोई समस्या सुलझाने भी नहीं बैठा। नीति और आचरण के सम्बन्ध में एक नहीं, अनेक विस्तृत विवेचन स्थान-स्थान पर अवश्य आये हैं। अतः इस उपन्यास में बँगला अथवा अँग्रेजी की प्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं। इस प्रकार शैली में प्रगतिशील होते हुए भी वह उपन्यास वस्तु की दृष्टि से प्रतिक्रियावादी था। उसने यद्यपि प्राचीन संस्कृत कहानियों (पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियों से अभिप्राय है) के शिक्षात्मक आदर्श को सामने रख कर नीति और उपदेश का आयोजन किया है किन्तु वस्तु में अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के प्रति असन्तोष उपस्थित किया गया है।

'परीक्षा-गुरु' के काल में राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिंदू,' 'भाग्यवती' और पं० बालकृष्ण भट्ट [सं० १९०१–सं० १९७१] का 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' भी इसी वर्ग की कहानियाँ हैं। मुंशी देवीप्रसाद इतिहास के विद्वान् थे, इतिहास के अनेकों ग्रन्थ उन्होंने लिखे। 'रूठी रानी' नाम का इतिहास ग्रंथ कुछ इस प्रकार का है कि वह उपन्यास नाम पा सकता है। इतिहास को उपन्यास की शैली में रखने का यह प्रथम प्रयत्न कहा जा सकता है।

यहाँ तक के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य शिक्षा था। ये किसी नीति, व्यवहार, आचरण और धर्म की शिक्षा देना चाहते थे और उसके लिए कथानकों की सृष्टि करते थे। वे शिक्षाएँ बौद्धिक नहीं, आर्ष-वचनों की मान्यताएँ हैं, प्रमाण और साक्षियों पर निर्भर करती हैं। किन्तु इससे सर्वसाधारण को आनन्द नहीं मिल सकता। शिक्षा और आदर्श का रूखा मार्ग वे क्यों चाहने लगे। कुछ उनको संतुष्ट करने वाली सामग्री भी चाहिये। इस उत्थान के अन्तिम चरण में हम तीन लेखकों को पाते हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी। इन कृतिकारों ने अद्भुत कौतूहल-वर्द्धक प्रेम-कथाएँ लिखीं, और साथ ही विलक्षण, रोमांचक, चतुराइयों से परिपूर्ण

जासूसी कहानियों को हिंदी में उपस्थित किया। रोमांस[1] का युग अब आया और साथ में जासूसी करतबों का भी गठजोड़ा होकर आया। दोनों हिन्दी में हाथ में हाथ देकर चले। प्रेम तो उनका सहारा था। वस्तुतः इन उपन्यासों में घटनाओं का वैचित्र्य और कौतूहल ही प्रधान था।

इन्हीं लेखकों के साथ देवकीनन्दन खत्री का उल्लेख करना आवश्यक है। इन्होंने तिलस्मी ऐय्यारी के उपन्यास लिखे, और तिलस्मी ऐय्यारी के उपन्यासों की हिन्दी में परंपरा डाली।

'दी इंगलिश नोवेल' के लेखक जार्ज सेन्ट्सबरी ने रोमांस पर लिखा है कि :—

"The origin of Romance itself is a very debatable subject or rather it is a subject which the wiser mind will hardly care to debate much. The opinion of the present writer—the result at least of many year's reading and thought—is that it is a result of the marriage of the older east and newer (non-classical) west through the agency of the spread of Christianity and the growth and diffusion of the "Saints life."

इस व्युत्पत्ति की ओर संकेत करने से पूर्व उसने रोमांस के लिए दो मूलतत्व स्थापित किये हैं। 'And above all" वह लिखता है, "the two great Romantie motives; Adventure and Love, are quite naturely present in it. (उसका अभिप्राय 'Apollonius of Tyre' नामक ग्रन्थ से है।) उसने फिर कहा है 'you must mix prose and poetry to get a good romance.

वह नोवेल (उपन्यास) और रोमांस (रोमांचक कथा) को एकदम पृथक्-पृथक् देखने के पक्ष में नहीं।

---

१. रोमांस शब्द की ठीक व्याख्या नहीं की जा सकी। इससे एक विशद अर्थ लिया जाता है, और कई प्रकार के उपन्यास इसमें सम्मिलित कर लिये जाते हैं।

वह उन्हें घनिष्ठ समझता है। "The separation of romance and novel—of the story of incident and the story of character and motive is a mistake logically and psychologically······। वह कहता है कि उपन्यास का विधान तो तभी हो गया जब आपने अपने मस्तिष्क से दो या अधिक पात्र गढ़कर उन्हें चलते-फिरते दिखाना आरम्भ कर दिया, परन्तु नाटकीय ढंग में नहीं, गद्य वर्णन की प्रकार।

हम १६०० के लगभग आ पहुँचे। उपन्यासों की भरमार हो उठी। उसमें नये-नये उद्योग और प्रयोग भी होने लगे। १६०० में गोस्वामीजी सरस्वती के सम्पादक थे। इस वर्ष से हिन्दी में गम्भीरता का समावेश होने लगा। उसकी रुचि और भावनाएँ परिमार्जन की ओर अग्रसर हुईं। और हिन्दी में कहानियाँ लिखने के उद्योग भी होने लगे। १६०० सन् में हिन्दी पुस्तकों की सर्वे में बतलाया गया था कि "हिन्दी में ८८७ ग्रन्थों की रचना हुई, इसमें उपन्यास केवल ४१ थे।" किन्तु इनमें अधिकांश निम्नकोटि के ही थे, इसलिए १६०१ में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के 'प्रणयी माधव' की आलोचना करते हुए उपन्यास-साहित्य पर यह सम्मति दी गयी—

"हिन्दी में आजकल उपन्यास विशेष रूप से निकल रहे हैं। आजकल के साधारण उपन्यासों में तिलस्म की ही भरमार रहती है और वे इस प्रकार की भाषा में लिखे जाते हैं कि कोई पढ़ा-लिखा विचारवान मनुष्य उन्हें अपनी माता, स्त्री अथवा कन्या के हाथ तक पहुँचाने में भी पाप समझेगा। 'प्रणयी माधव' ऐसा उपन्यास नहीं था।"

इन निम्नकोटि के उपन्यासों से अरुचि हो उठी थी, और साहित्यिक उपन्यासकार रुचिपरिमार्जन के लिए विदेशी साहित्य तथा अहिन्दी भाषाओं के साहित्य से अच्छे-अच्छे उपन्यासों के अनुवाद करने में प्रवृत्त हुए। यह क्रम चलता रहा। और काशी में ऐसे ही युग में एक और महान् नक्षत्र का उदय हुआ। देवकीनन्दन खत्री में विचित्र प्रतिभा थी। उसमें रोमांस कोटि के उपन्यासकारों की सभी क्षमताएँ थीं, पर कल्पनाओं की उच्चतम उड़ानों की सम्भावनाओं से गुदगुदाया हुआ उसका मस्तिष्क तिलस्म और ऐयारी की ओर झुक गया। खत्री जी की लेखनी ने हिन्दी-उपन्यासों में ज्वार ला दिया। अनेकों,ने उसके उपन्यास पढ़ने

के लिए हिन्दी सीखी, और इस तिलस्मी युग के समाप्त होते-होते प्रेमचन्द का आगमन हुआ।

इस समय तक हिन्दी में उपन्यास-सम्बन्धी जो प्रवृत्ति हुई, उसका इस विवेचन के उपरान्त, एक संक्षिप्त विश्लिष्ट रूप यहाँ दे देना प्रेमचन्द को समझने के लिए उचित होगा।

पहले 'परीक्षा गुरु' की कोटि के शिक्षा-उपन्यास; इनमें नीति, धर्म, आचरण का आदेश। कथा इनका साधन। पात्र व्यक्तित्व-शून्य, वर्णन लोच-रहित, कल्पना का उपयोग कथा-सूत्र की भूमिका को मनोरंजक बनाने के लिए, कथा-सूत्र सरल और वैविध्य से शून्य। फिर रोमांस की भाँति के उपन्यास, इनमें प्रेम का भाग गौण और कल्पना-सृष्टि का वैचित्र्य प्रधान हुआ। कल्पना केवल कथा-सूत्र की भूमिका को मनोरंजक करने के लिए नहीं, स्वयं कथा-सूत्र, तथा घटनावली को वैचित्रपूर्ण करने के लिए। कथासूत्र वैविध्य से शून्य पर वैचित्र्य से पूर्ण, अद्भुत और आश्चर्य से युक्त, रहस्य से घिरा। पात्र व्यक्तित्व-विहीन, किन्तु गति-सम्पन्न; शिक्षा-उपन्यासों की प्रतिक्रिया स्वरूप उनके उदास और मन्द स्वर के विरोध में हलचलों से सजीव, इनके वृत्तों में इतिहास का आधार, जासूसी का पुट।

इसी वैचित्र्य के भाव की जड़ पराकाष्ठा के फलस्वरूप रोमांस में तिलस्म और ऐयारी का समावेश हुआ। इस प्रकार के उपन्यासों के दो भेद···

एक में रंगीन कवि-कल्पनाओं से सजी वर्णना, ऐतिहासिक आधार, पतित प्रेम की क्रीड़ा, विचित्र घटनाओं का अयुक्तिमत सन्निधान।

दूसरे में मर्यादायुक्त पात्र, अनैतिहासिक कथानक, प्रेम गौण किन्तु आर्यत्व पूर्ण, विचित्र घटना, तिलस्म और ऐयारी का कुछ युक्तिमत अद्भुत रूप।

इन्हीं के साथ-साथ जासूसी उपन्यासों का निर्माण हुआ। इन सभी उपन्यासों में जीवन से लगाव नहीं था। देश, काल और अवस्था की अवहेलना करते हुए ये लिखे गये थे। पत्तों पर पड़ी ओस के समान ये अद्भुत थे। आश्चर्य को सन्तुष्ट कर देने में इनका काम समाप्त हो गया, और ये शीघ्र ही अपना महत्त्व खो बैठे।

घटनाएँ उपन्यासों में यथार्थ जीवन के अनुकूल होनी चाहियें । जादू-भरी तिलस्म तथा ऐयारी का उपन्यासों में सम्मान नहीं हो सकता । पात्र का अपना व्यक्तित्व और चरित्र होता है, जिनका चित्रण मनोवैज्ञानिकता के अनुकूल होना चाहिये । अतः उपन्यासों का वास्तविक जन्म हिन्दी में प्रेमचन्द के द्वारा हुआ । प्रेमचन्द के समय से ही उपन्यासों की प्रथम स्थिति आरम्भ होती है । हिन्दी के उपन्यासों में तीन स्थितियाँ दिखायी पड़ती हैं ।

प्रथम-स्थिति वह है जिसमें स्वस्थ-समग्र जीवन का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है—

प्रथम स्थिति : स्वस्थ-समग्र जीवन

प्रेमचन्द से हिन्दी में प्रथम स्थिति का आरम्भ होता है । प्रथम स्थिति में उपन्यासकार का दृष्टिकोण स्वस्थ और समग्र जीवन का प्रतिपादक रहा। प्रेमचन्द जी ने मानव और उसकी श्रद्धा को अक्षुण्ण रखा है । उन्होंने दोषों और दुर्बलताओं से अपनी दृष्टि चुरायी तो नहीं, किन्तु मनुष्य और समाज में उसे इतनी प्रबल श्रद्धा है कि उसने गुणों तथा कल्याण भाव से कभी निराशा की सम्भावना उत्पन्न नहीं होने दी । जीवन को समग्रता की दृष्टि से देखने के कारण ही इस काल के लेखक को गाँव और शहर के अलग-अलग वृत्त एक ही साथ प्रस्तुत करने पड़े हैं । यहाँ तक प्रथम स्थिति का एक रूप है । इसी प्रथम स्थिति का दूसरा पहलू प्रसादजी की लेखनी के द्वारा अवतीर्ण किया गया है। प्रसाद जी ने समाज के आन्तरिक सम्बन्धों का विश्लेषण करके उसकी जर्जरता और उसका कंकाल दिखाया है । जीवन की समग्रता पर उनकी भी दृष्टि है। वे भी गाधी को नहीं भूल सके हैं । किन्तु प्रेमचन्द जी की दृष्टि आस्थामय जीवन की कार्य-व्यवस्था की ओर है । प्रसादजी की दृष्टि मुख्यतः मनुष्य और समाज के यौन आचरणों के मूलाधार पर निर्भर करती है। प्रसादजी में इसलिए रोमान्स की रंगत दिखायी पड़ती है । इस रंगत से मनुष्य और समाज के गाँव और नगर के सामन्तवादी वातावरण का भी दिग्दर्शन होता है : फलतः जीवन के दोनों पहलू सजीव हो उठे हैं । दोनों को प्रस्तुत करते हुए भी हमें प्रसादजी ने केवल अन्धकार व निराशा से ही आच्छादित नहीं कर रखा ।

प्रथम स्थिति की पृष्ठभूमि में जो सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन चल रहे थे, उनके साथ इंगलैंड से आयी हुई साहित्यिक विचार-धारा ने, जिसमें नीत्से-जैसे घोर व्यक्तिवादी की रचनाओं का प्रभाव भी सम्मिलित था, धीरे-धीरे समाज के संगठित अधिकार और शक्ति को छिन्न-भिन्न करना शुरू किया। शहरी संस्कृति समृद्ध हुई। बौद्धिकता भी प्रबल हुई। ऐसी स्थिति में मनुष्य प्रत्येक प्रचलित संस्कार अथवा विश्वास की परीक्षा करके उसे ग्रहण करने की प्रवृत्ति से ग्रस्त होता गया। पाप और पुण्य की परीक्षा भी की गयी। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' ने समाज को मानव की मात्र पृष्ठ-भूमि का रूप प्रदान किया और प्रेम की, रोमान्स की भूमि पर एक साधु और एक सामन्त को कसौटी बनाकर पाप और पुण्य की व्यक्तिवादी सत्ता का उद्‌घाटन किया। व्यक्ति उभरा और अब उसके आचरणों की बुराई-भलाई का आदर्श उसकी अपनी मानसिक स्वीकार्यता ही बनी, और यहाँ के बाद उपन्यासों की दूसरी स्थिति आरम्भ हुई।

दूसरी स्थिति—समाज और मानव की प्रथम स्थिति में जो अवस्था थी उसमें धीरे-धीरे समाज महत्त्वहीन होता गया और मानव, व्यक्ति-मानव, उभरता चला आया। यहाँ तक कि उसे अपने आचरणों को पाप और पुण्य की परम्परागत कसौटी पर कसने की भी आवश्यकता नहीं रह गयी। अब मानव उभरा, उसका साहस बढ़ा और उसकी अपनी समस्या ही उसके समक्ष प्रस्तुत हुई। दूसरी स्थिति के उपन्यासकारों में हमें इसलिए व्यक्तिवादी मानव की विविध रूप-रेखाएँ मिलती हैं। इस स्थिति में हमें मुख्यतः तीन प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। एक को हम मानव और उसकी परिस्थिति का शीर्षक दे सकते हैं।

मानव और उसकी परिस्थिति

इस मानव और उसकी परिस्थिति-सम्बन्धी उपन्यासों के प्रधान लेखक जैनेन्द्रजी माने जा सकते हैं। प्रेमचन्द के जीवनवादी दृष्टिकोण और समग्र व्यक्ति-समाज-सम्बन्धी दार्शनिकता के विरुद्ध जैनेन्द्र ने क्रान्ति की, और स्वयं प्रेमचन्द से आशीर्वाद प्राप्त किया। दूसरी स्थिति के उपन्यासकारों की समस्या की मुख्य धुरी मानव के स्त्री और पुरुष रूप में यौन-सम्बन्धों के विविध रूप थे। इस

युग में हमें इसीलिए तीन प्रधान शाखाएँ मिलती हैं। जैनेन्द्र ने मानव को उसकी परिस्थिति में देखा, किन्तु मानव-मन की अन्तस्तम आत्मा को इसने भी अक्षुण्ण रखा। 'सुनीता' ने मन के सतीत्व के प्रकाश में शरीर और आवरणों के सत के महत्त्व को ध्वस्त कर दिया; और सिद्ध किया कि जब तक मन का गढ़ सतीत्व भाव से दृढ़ है, शरीर को कोई भी कैसे ही ग्रहण करे क्या बनता बिगड़ता है। इलाचन्द्र जोशी ने मानव के उस चेतन-मानस के अन्धकार में प्रवेश करके उसकी छाया और प्रेतों के मनोविश्लेषण के द्वारा मानव-मन के गूढ़ निर्माण को प्रस्तुत किया और 'अज्ञेय' ने इस मात्र मानव की अपने ऐहिक विकास की पुरुष-तत्त्व और स्त्रीत्व के सम्बन्ध की कहानी ही नहीं कही, परिस्थितियों के प्रति चल गूढ़ मन की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का स्वरूप प्रत्येक सम्भावित अनुभूति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया। इसमें वह आस्तिकता है जो नास्तिकता के भी दूसरे छोर को छू लेती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों को स्त्री और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों को वेधकर न तो नग्न व्यक्तियों को ही देखना पड़ा था, न व्यक्तियों के प्राकृतिक आवरण शरीर को, और न उसके चेतन मानस को विदीर्ण करके मन के भीतर के अन्धकार और वीभत्स को ही कुरेदकर बाहर लाना पड़ा था।

मानव : व्यक्तिवादी

जब जैनेन्द्र की लेखनी ने झुँझलाकर सुनीता को वस्त्र फेंककर एक दम नग्न खड़ा होने के लिए विवश कर दिया तब समाज का भय जा चुका था; उसकी दीवारें गिर चुकी थीं; व्यक्ति व्यक्ति के सामने था, और वह उन्मादित हो चुका था। वह स्त्री के उस कवच को भी सहन नहीं कर पा रहा था जो समाज ने पत्नीत्व के रूप में उसे दिया था। झुँझलाकर स्त्री ने अपने को सम्पूर्ण नग्न कर दिया। इस पहले धक्के ने पुरुष को स्तम्भित कर दिया। वह प्रेम की आध्यात्मिकता के अँधेरे में शरीर को चुराना चाहता था। स्त्री की नग्नता के प्रकाश में अपनी वासना में ही अपने को कुत्सित नहीं देखना चाहता था। वह यह नहीं सुनना चाहता था कि सच ही वह शरीर के मोह में ग्रस्त था। उसकी स्त्री-सम्बन्धी दिव्यता की घोषणा और महानता की उपासना का यथार्थ मर्म यही था कि वह कामोद्दीप्त था। पहली बार वह स्तम्भित हुआ,

पर सँभला और अब तो वह कुछ काल के लिए अपने मन के भीतरी अन्धकार में बसने वाले विकारी प्रेतों को ही उघेड़-उधेड़कर देखता रहा। उसे फ्रायड ने बताया भयभीत मत हो। यह न तो वीभत्स है और न अद्भुत। मानव-मात्र की यह कहानी है, यही मानव है। यहाँ इस अन्धकार में दमित भावनाओं के क्रीड़ामय लोक में ही मानव का वास्तविक स्वरूप है।

उसने इस सत्य को जैसे ही हृदयंगम किया, धीरे-धीरे उसकी लज्जा दूर हुई, वह आश्वस्त होकर 'व्यक्तिवादी' के संकोचशील खोल को उतारकर अहंवादी हुआ। उसकी 'व्यक्तिवादी' निज-पीड़न, आत्म-केन्द्रित मानसिक निगूढ़ता और कच्छपता समाप्त हो चली। उसके लिए अपना आपा, अपना 'अहं' ही सब-कुछ हो गया। वह आत्म-स्थित हुआ—-स्थित-प्रज्ञ की भाँति नहीं, वह आत्मस्थित हुआ 'हम चुनी दीगरे नेस्त' के भाव से। वह अपने जीवन के विकास के मर्म को स्वयं परीक्षा की दृष्टि से देखने लगा। ऐसे अहंवादी स्तर पर 'शेखर : एक जीवनी' खड़ी हुई। इस आत्मस्थित प्रज्ञावान् उपन्यासकार ने आत्मा के मिथ्या को उभारकर अहं के निर्माण और उसके स्वरूप के भौतिक सत्य का साक्षात्कार कराने की चेष्टा की। कुण्ठित मन की भव्य होने वाली प्रवृत्तियों का रहस्य उसने मनोविश्लेषणवादी विश्वासों के सहारे अनावृत कर दिया। उसने अहं-वादी को राजनीति, समाज, कला, विद्या के क्षेत्रों में जाने दिया; पर उसके अहं को कुण्ठित नहीं होने दिया। यह अहं और भी उग्र हुआ। वह अपने 'अहं' के बल पर अपने को भीम समझने लगा, उसके पग और भुजाएँ विशाल हुईं; उसका सिर आकाश में तारों से टकराने लगा। किन्तु इस 'अहं' के गौरव और महत्व के अनुकूल उसके पास कुछ नहीं था। यह व्यक्ति इस अहंवादी युग के राजनीतिक अहं से टकरा गया।

तीसरी स्थिति : राजनीतिक संघर्ष : अहंवादी व्यक्ति

इस टक्कर ने एक तीव्र प्रतिक्रिया प्रस्तुत की। यह 'अहं', जो उच्च भाव-मण्डल से ग्रस्त हो चुका था, इस टकराहट से हीनताभाव का शिकार हो गया। उसने अब अपने खोल से मुँह निकाला और अपने को अत्यन्त अपदार्थ समझने लगा। उसमें उसके अहं ने एक चीत्कार उत्पन्न की। विविध राजनीतिक

सिद्धान्तों को लेकर उसने विवाद किया और यह देखना चाहा कि किससे उसके अहं का सामञ्जस्य बैठ सकता है। अधिकार के लिए उसका आग्रह बढ़ा और अपनी स्वत्व-हीनता का ज्ञान। वह अब अपनी स्थिति को 'पलायन' और प्रगति' की तुला पर तौलने लगा।

स्वत्व-हीन मानव : विद्रोही

अधिकार के लिए हम प्रेमचन्द के सूरदास को भी संघर्ष में प्रवृत्त होते देखते हैं। पर उस संघर्ष में सूरदास का बल उसकी वह निःस्वार्थ प्रवृत्ति है, जिसकी नैतिक शक्ति में प्रभाव है। उसके इन अधिकारों का आधार नीति, न्याय और आत्मिक बल है। संघर्ष निश्चय ही राजनीतिक है। किन्तु वह केवल राजनीतिक अधिकारों के लिए नहीं किया गया। न कहीं राजनीतिक विवाद ही प्रस्तुत हुए हैं। प्रेमचन्द के संघर्ष का यही रूप सर्वत्र है। व्यक्ति ने समाज के अधिकारों और उसके उन्नयन के लिए अपना बलिदान दिया है।

अब वह स्थिति नहीं रही। अहंवादी व्यक्ति का समाज से गहरा सम्बन्ध नहीं रह जाता, वरन् वह अपने अहं के विश्लेषण से यह पाता है कि समाज ने ही उसे अत्यन्त दरिद्र, नपुंसक और बन्दी बनाकर रखा है। यही भावना उसमें समाज के प्रति घोर घृणा-भाव भरती है और यही घृणा उसे विद्रोह के लिए प्रेरित करती है। यों वह सहज ही विद्रोही हो जाता है। अहंवादी व्यक्तित्व के इस घृणा-भाव तथा विद्रोह में मूल कारण कोई-न-कोई व्यक्तिगत आघात होता है। असफल प्रेम, व्यावसायिक असफलता, असफल महत्त्वकांक्षा, उच्च-भाव-मण्डल अथवा हीन-भाव-मण्डल के परिणाम से किसी अपमान की वेदना। वह वैफल्य की वेदना में उन्मत्त ध्वंस की ओर अग्रसर होता है। ध्वंस उसे स्वभावतः प्रिय हो जाता है। वह नास्तिक, निराश और क्रान्ति-विश्वासी अपनी प्रतिहिंसा में मानव का, समस्त मानव का, संकल्प-बद्ध शत्रु हो जाता है, एक ऐसा क्रान्तिकारी जो क्रान्ति में क्रान्ति के लिए विश्वास करता है, नाश ही जिसे समस्त समस्याओं का हल विदित होता है। उसके इस प्रताड़ित अहं में भीतर फ्रायड का काम-सिद्धान्त व्याप्त रहता है। मार्क्सवाद के दर्शन तथा गांधीजी के देश-प्रेम आदि से अनुप्राणित वह विविध राजनीतिक सिद्धान्तों पर गरमागरम बहस भी करता है, और कभी-कभी किसी उग्र आन्दोलन में सम्मिलित भी दिखायी पड़ता है।

पर है वह काम अथवा प्रेम के शहद में लथपथ मक्खी, घोर यथार्थवादी—केवल परिस्थितियों और शरीर की रसायन में विश्वास रखने वाला, आचार-सौंदर्य के लिए केवल व्यक्तिगत रुचि या धारणा को ही मान्य मानने वाला। यह अहंवादी व्यक्ति समाज और राजतन्त्र का ही विरोधी नहीं हुआ, मानव-विरोधी भी हुआ और इसी ने मानव का मूल्य खो दिया। मानव कीट-पतंगों की कोटि में पहुँच गये, जिन्हें जब-तब चाहे जैसे मसला और नष्ट किया जा सकता है।

यह उपन्यासकार इस अहंवाद को लेकर चला तो यह एक अद्भुत-सी बात लगी। लोगों ने उसे प्रश्न की दृष्टि से देखा।

मानव : ऐतिहासिक व्याख्या

तो अब इस अहंवादी ने मानव के इस अपनी ढाल तथा ढाँचे के अहंवादी रूप को इतिहास में से खोज-खोजकर खड़ा करने का ऐतिहासिक और महत्त्व-पूर्ण कार्य करना आरम्भ किया, और प्रश्नकर्ता की मौन पृच्छा का समाधान ही प्रस्तुत नहीं किया, प्रत्युत मानव के अहंवादी इन्द्रिय-रत शाश्वत स्वरूप का चित्र भी प्रस्तुत किया और जैसे बलपूर्वक कहा कि यही यथार्थ मनुष्य की प्रगति का यथार्थ है। वह वोलगा तक गया, गंगा तो उसके घर ही थी। इतिहास के अन्धकार में से वेदों तक के अहंवादियों के स्तूप उसने खड़े किये, वह मुर्दों के टीलों (मोहन जोदड़ो) की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक शोध के तन्तु में से निर्जीव फूलों को उठाकर ऐसे महान् चरित्रों की कथाओं की सृष्टि में भी प्रवृत्त हुआ, जिससे इतिहास की कुछ बातें चमकीं, कुछ क्षुब्ध हुईं, पर 'मानव' निश्चय ही विचलित हुआ।

मानव : भूमि-पुत्र

और आज अन्त में इस विचलित हुए मानव को अपनी भूमि का संबल ग्रहण करना पड़ा है। आज उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा की भाँति भूमि-पुत्रों को, पृथ्वी-पुत्रों को खड़ा कर रहा है। ये जिस मिट्टी के बने हैं उसी के जैसे हैं। इन भूमि-पुत्रों में सामन्त भी हैं, समाजवादी मनोवृत्ति के भी हैं, और अन्य विविध जन भी हैं, पर मानव के किसी उन्नयनपूर्ण कल्याण की विकासमय अग्रगामिता का भाव इनमें नहीं।

: २ :

कहानी

कहानी के तत्त्व

कहानी मानव के साहित्य की कहानी से ही आरम्भ होती है। मनुष्य की शिशुप्रवृत्ति जिज्ञासा के रूप में सदा विद्यमान रहती है, अतः कहानी से उसे सृष्टि के आरम्भ से ही प्रेम चला आया है। क्या मन-बहलाव, क्या धार्मिक उपदेश, क्या इतिहास, क्या राजनीति, क्या दर्शन सभी में कहानी का उपयोग होता आया है। प्राचीन साहित्य में 'पंचतंत्र' व 'हितोपदेश' की कहानियाँ इसका उदाहरण हैं। इनसे मनोविनोद तथा नैतिक शिक्षा दोनों कार्य पूरे होते हैं। नानी की कहानियों में अप्सरा, जिन, भूतों, यक्ष-गंधर्व, देव, सिंह-शशक, आदि जड़-चेतन सबको वाणी मिली है। कहानी का महत्त्व शिशु से लेकर दार्शनिक तक सब समझते हैं।

आज जिस अर्थ में कहानी शब्द का प्रयोग हम कर रहे हैं, वह इसके आधुनिक रूप की ओर संकेत करता है। हिन्दी में कहानी के लिए कथा, कहानी, आख्यायिका और आख्यान का प्रायः समानार्थों में प्रयोग होता है। आचार्य दण्डी ने कथा और आख्यायिका में कोई अन्तर नहीं बतलाया है।[1] उनके अनुसार कथा कवि की कल्पना का परिणाम होता है। आख्यायिका किसी ऐतिहासिक अथवा परम्पराश्रित वृत्त पर आधारित रहती है।[2] कुछ के मत से आख्यायिका[3] में नायक स्वयं कथन करता है। इसे एक प्रकार की

---

१ 'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता' दण्डीः काव्यालंकार १, २८।

२ एक आचार्य ने कथा और आख्यायिका में यों भेद बताया है :

"प्रबन्धकल्पनां स्तोक-सत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः।
परम्पराश्रया या स्यात् मताख्यायिका बुधैः।"

३ 'साहित्यदर्पण' ने आख्यायिका की यह परिभाषा दी है—

"आख्यायिका कथावत् स्याद् कवेर्वंशादि-कीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं गद्यं क्वचित्-क्वचित्।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्रेण छंदसा येन केनचित्।
अन्यापदेशेनाश्वास-मुखे भाव्यर्थ-सूचनम्।

आत्म-कहानी समझनी चाहिये। इसको परिच्छेदों में बाँट देते हैं। कथा में ऐसा नहीं होता'।

आख्यानों में कुछ के मत से शुद्ध कल्पना का उपयोग होता है, ऐतिहासिकता का उपयोग नहीं होता। किन्तु 'साहित्य-दर्पण' ने बताया है कि किसी पूर्व प्रचलित वृत्त को ही आख्यान कहते हैं—"आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः", यह कौतूहल, विनोद, मनोरंजन, हास्य से आपूरित रहता है। इसमें मुख्य रूप से १—नीति-कथाएँ, २—लोक-कथाएँ होती हैं। नीति-कथाओं में पशु-पक्षी भी मनुष्य की तरह बोलते दिखाये जाते हैं। 'पंचतंत्र' व 'हितोपदेश' ऐसी ही नीति-कथाएं हैं।

लोक-कथाओं में पशु-पक्षी कथा के पात्र नहीं होते, मनुष्य होते हैं। ये मनोरंजन-प्रधान होती हैं। नीति-प्रधान नहीं, यथा गुणाढ्य की 'वृहत्कथा'।

प्रेमचन्द जी ने कहानी की परिभाषा यों दी है—

"हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कही जा सके। उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसको मुग्ध किये रहे और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, उसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्व-हीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जागृत करने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से, मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से, एक अवश्य उपलब्ध हो।" आगे कहते हैं कि सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर प्रतिष्ठित हो।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है। कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्यों को चित्रित करना नहीं वरन् उनके चरित्र का अंश दिखाना है। यह

परम आवश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकलें वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो···जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक उनको अपने स्थान पर समझ लेता है तभी उस कहानी से आनन्द प्राप्त होता है। और लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में वह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य में असफल है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गयी है, उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है, उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा, अब वह केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है, अब उसमें व्याख्या का अंश कम, समवेदना का अधिक रहता है······ अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोवृत्ति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे, घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। खुलासा यह है कि कहानी का आधार अब घटना नहीं अनुभूति है। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं है, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहती है कि उसमें सौंदर्य की झलक हो और जिसके द्वारा पाठक को सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।''[१]

कई अन्य लेखकों ने भी कहानी की परिभाषाएँ दी हैं, परन्तु उन सबका ध्यान इसी उपर्युक्त तथ्य पर रहा है। जैनेन्द्र जी चिरन्तन सत्य को खोजने का साधन कहानी को समझते हैं। जिस कहानी में कोई गुत्थी न सुलझायी गयी हो उसे वे कहानी नहीं मानते।

इस प्रकार कहानी की परिभाषा निश्चित करना चाहे कठिन हो, किन्तु उसके स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन नहीं है। मनो-विज्ञान की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति तथा वर्तमान युग के उलझे हुए प्रश्नों ने कहानी को एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति का साधन बना दिया है। इस साधन के स्वरूप-निर्णय के लिए आवश्यक है कि हम साहित्य के अन्य अंगों के साथ-साथ इसे रखकर इसको अलग से पहचानने का प्रयत्न करें।

---

१. देखिए—'प्रेमचन्द : उनकी कहानी-कला'

कहानी का जन्म प्रथम कथा के रूप में हुआ, अतः उपन्यासों व कहानियों में बहुत सी समानताएँ हैं। तब क्या हम इसे छोटा उपन्यास कह सकते हैं—नहीं ! बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में "मेंढक को छोटा बैल नहीं कहा जा सकता।" इसी प्रकार कहानी में दृष्टि का एक स्नैप (झलक) रहता है, जीवन का एक पहलू रहता है, एक समस्या रहती है, किन्तु उपन्यास में विशद चित्र सम्मुख रहता है।कहानी में व्यक्तित्व की, विचार-बिन्दु या समस्या-विशेष की अभिव्यक्ति होती है, उपन्यास की तरह यहाँ विशदता का अवसर नहीं है। उपन्यास की तरह विस्तार, घटना-वैविध्य, पात्र-बहुलता, अनेकरूपता, उद्देश्य की अनेकता आदि तत्त्व कहानी में नहीं आते, कहानीकार सीधा लक्ष्य की ओर चलता है। वह छः दिन का पंथ चलता है, उपन्यास की तरह वर्ष-भर का नहीं। अर्जुन की तरह वह लक्ष्य की ओर ही ताकता है। कहानीकार कहानी को गमला बनाता है, उपन्यासकार की तरह विज्ञान-वनस्थली का निर्माण नहीं करता। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि संक्षिप्तता के साथ-साथ कहानी और उपन्यास के दृष्टिकोण में भी अन्तर रहता है और टेकनीक में भी।

कहानी को हम गीति-काव्य, इतिहास, एकांकी नाटक तथा रेखा-चित्र आदि से भी अलग पहचान सकते हैं। गीति-काव्य में कवित्व तत्त्व की प्रधानता रहती है, कहानी में यथार्थता की। पद्य-बद्ध कहानी गीति-काव्य हो सकती है, कहानी नहीं। इतिहास घटना-सत्य पर आधारित है। एकांकी अपनी टेकनीक व रूप-रचना की दृष्टि से कहानी से बिलकुल भिन्न होता ही है। नाटकीय संवादों की ही वहाँ प्रधानता होती है और उसी के द्वारा घटना अथवा कथा-सूत्र प्रकट होता है, कहानी में कथा-तत्त्व प्रधान होता है। कथोपकथन कहानीकार के लिए एक-मात्र माध्यम नहीं। कहानी का आवश्यक तत्त्व है कहानीकार की विश्लेषणात्मक तथा वर्णनात्मक शक्ति। एकांकी दृश्य काव्य की वस्तु है और कहानी श्रव्य की। प्राचीन आचार्य काव्य के यही दो भेद करते थे—इन्हीं में वे समस्त साहित्यिक अभिव्यक्ति समेट लेते थे। इस वर्गीकरण का आधार वस्तु की ग्राहक इन्द्रियाँ हैं। प्राचीन काल में समस्त काव्य कण्ठस्थ रहता था, और सुना जाता था, अतः उसे 'श्रव्य' कहा गया। आज तो 'श्रव्य' केवल वे रचनाएँ हैं जो रेडियो पर प्रसारित होती हैं और जो केवल श्रवण

कराने केलिए ही लिखी जाती हैं। प्राचीन काल का श्रव्य आज 'पाठ्य' कहा जायगा। रेखा-चित्र का विषय यद्यपि कोई एक ही व्यक्ति होता है तथापि उसमें कहानी-जैसी गति नहीं होती वह तो चित्र की ही भाँति शब्दों द्वारा उभरा हुआ जड़ चित्र ही होता है, ध्वनन-शक्ति के कारण विमोहक अवश्य हो जाता है। स्थिरता उसमें विशेष रूप से रहती है, "रेखा-चित्र में जहाँ वर्णन (Description) वहाँ कहानी में प्रबन्धात्मक कथन(Narration) अथवा विवरणात्मकता आवश्यक है।"

इस प्रकार कहानी, जिसे गल्प भी कहा जाता है, साहित्य के अङ्गों में एक स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। यह एक ओर तो कथा, आख्यान तथा आख्यायिकाओं से भिन्न है और दूसरी ओर उपन्यास, गीति-काव्य तथा रेखा-चित्र, एकांकी आदि से।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

१. कहानी में एकलक्ष्यता होती है, एक घटना, आत्मा की एक झलक, एक मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रदर्शन, जो भी हो वह एक हो, विविध न हो।

२. घटना का स्थान अनुभूति ले सकती है। अनुभूति वाली कहानियाँ ऊँचे दर्जे की होती हैं।

३. कहानी का आधार मनोवैज्ञानिक होता है।

४. वह मनोरञ्जन करती है, पर उसमें मानसिक तृप्ति के लिए भावों को जागृत करने के लिए भी कुछ होता है।

५. कहानी घटना-प्रधान हो सकती है और चरित्र-प्रधान भी, पिछले प्रकार की कहानियाँ उच्चकोटि की समझी जाती हैं।

६. यह आवश्यक है कि कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो।

७. कहानी में तीव्रता हो, ताजगी हो, कुछ भी ऐसा न हो जो अनावश्यक कहा जा सके।

८. कहानी की भाषा बहुत ही सरस और सुबोध होनी चाहिये।

९. घटनाएँ पात्रों की मनोवृत्ति से स्वयं उद्भूत हों, वे प्रधानता न ग्रहण कर लें।

आधुनिक कहानी के तत्त्व

कहानी के तत्त्व उपन्यास की तरह ही पाँच होते हैं—

१. वस्तु, २. पात्र, ३. कथोपकथन, ४. देश-काल तथा ५. उद्देश्य।

इसके अतिरिक्त छठा तत्त्व होता है टेकनीक या शैली।

वस्तु—'पो' लिखता है कि कहानीकार को चाहिये कि वह प्रथम घटना को खोजकर विचारों की शृङ्खला जोड़ने में अपने समय को नष्ट न करे। उसे चाहिये कि वह अपनी कहानी का कोई लक्ष्य निर्धारित कर ले और तब वस्तु को इस प्रकार संयोजित करे कि अधिक-से-अधिक प्रभाव उत्पन्न हो सके। कहानी का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक परिच्छेद उसी प्रभाव की ओर प्रधावित रहे, शिथिलता का प्रवेश कहीं किसी दशा में न होने पाये। कलाकार के मन में कहानी की मूल भूत भावना के प्रति जितना आवेग होगा और उस आवेग को जितना अधिक कहानी में वह भर सकेगा, कहानी उतनी ही सुन्दर होती जायगी। वस्तु के संगठन व निर्वाह के सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि कहानी की घटना नलिका के पारे की भाँति क्रमशः ऊपर की ओर चढ़ती जाय।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण—पात्र व्यक्तित्व लिये हों। केवल घटनाओं का संयोजन निम्न श्रेणी की कहानी को जन्म देता है। पात्रों की अन्तःप्रवृत्तियों के रहस्योद्घाटन द्वारा कहानीकार पाठक के मन पर एक अमिट प्रभाव डालता है। व्यवहारों का सूक्ष्म अवलोकन, मनोवेगों का उत्तेजन, संवेदन का स्पर्श आदि सब चरित्र-चित्रण को सूक्ष्म और कलापूर्ण बनाते हैं। यदि चरित्र में उत्थान या पतन दिखाना वांछनीय हो तो एक ही आघात से परिवर्तन उपस्थित हो जाना चाहिये। क्योंकि चरित्र-विकास का अवसर तो उपन्यास में रहता है, कहानी में नहीं। कहानी तो किसी ऐसी झलक को प्रस्तुत करती है कि उसी से चरित्र का मर्म प्रकट हो जाता है।

चित्रण कई प्रकार से होता है। १. स्वयं कथन द्वारा। २. परस्पर सम्भाषण द्वारा, ३. अन्य पुरुष के रूप में। इसमें परस्पर सम्भाषण तथा अन्य पुरुष के रूप में चित्रण करने वाली शैलियाँ अधिक व्यवहृत हैं। स्वयं कथन में अन्य पात्रों का चित्रण उतना उत्तम प्रकार से नहीं हो पाता है। अपने चरित्र का

विश्लेषण अच्छा हो सकता है । वास्तविक बात यह है कि ये विविध शैलियाँ अपना-अपना महत्त्व रखती हैं । ये केवल विविधता लाने के लिए ही काम में नहीं लायी जातीं । स्वयं कथन अथवा उत्तम पुरुष की शैली का उपयोग तब किया जाता है जब लेखक कहानी के कहानीत्व को आत्म-कहानी के स्तर पर लाकर एक ओर तो उसे यथार्थता के निकट पहुँचाता है, दूसरे जीवनी की शैली में कहानी के व्यक्तित्व की रक्षा का अपना कौशल सिद्ध करता है । किसी वस्तु के सम्बन्ध में जब कहानीकार केवल एक ही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना चाहता है अथवा जब एक दृष्टिकोण से ही चरित्र की व्याख्या करना चाहता है तब भी यह शैली ही सुविधाजनक और कलात्मक विदित होती है । 'परस्पर सम्भाषण' वाली शैली उस समय बहुत उपयोगी सिद्ध होती है जब कहानीकार किसी मनोमुद्रा, वाणी-कौशल, वाक्-जाल, वाणी-भ्रम या वाणी की शक्ति को ही दिखाना चाहता है । इस शैली के द्वारा कहानीकार पाठक का ध्यान शब्दों और लहजों पर केन्द्रित कर देता है । जिससे पाठक शब्दों की अर्थ-शक्ति से तो परिचित होता ही है शब्दार्थ से परे मानव के स्वरूप को भी देखने की क्षमता पा लेता है । चरित्र में रोचकता प्रायः द्वन्द्व से आया करती है । जब पात्र के सम्मुख दो विरोधी भावनाएँ आती हैं । तब कलाकार की शक्ति की परीक्षा होती है कि वह उसे कैसे निभाता है ?

कथोपकथन—कहानी की उच्चता इसी तत्त्व पर निर्भर है । शिथिल कथोपकथन वाली कहानियाँ घटना-चक्र के आकर्षक होने पर भी सफल नहीं हो पातीं, क्योंकि प्रभाव उत्पन्न करने का श्रेय प्रायः कथोपकथन की सफलता पर ही निर्भर होता है । वार्तालाप संगत, सजीव और वातावरण तथा पात्रों के चरित्र के मर्म के अनुकूल होने चाहियें, अत्यन्त अलंकृत, कवित्व से लदे या अत्यन्त विश्रृङ्खल एवं शिथिल कथोपकथनों से कहानी-कला उत्कर्ष नहीं प्राप्त कर सकती । प्रारम्भ से अन्त तक जो कथाकार संवादों को आकर्षक बना लेता है (घटना का आकर्षण चाहे कुछ न हो) वह कहानी को उच्च कोटि की कहानी बना देता है । नाटकीयता, भावात्मकता, मार्मिकता चुस्ती तथा शैली का चुटीलापन कथोपकथनों में आकर्षण ला देता है ।

वातावरण—प्राय: ऐतिहासिक कहानियों के वातावरण अथवा परिस्थिति-चित्रण की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है। ये ही केवल देश-काल के लिए लिखी जाती हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य कहानियों में इसका कोई मूल्य ही नहीं। प्रत्येक कहानी में वातावरण की उपयुक्तता पर विचार करना पड़ता है। मानसिक स्थिति के अनुकूल होने पर ही वातावरण का चित्रण मनोहारिता उत्पन्न कर देता है। प्रसाद जी वातावरण उपस्थित करने में परम पटु हैं। 'पुरस्कार' तथा 'आकाश दीप' पढ़कर तात्कालिक चित्र अत्यन्त स्पष्ट होकर हमारे नेत्रों के सम्मुख घूम जाता है। यथार्थ में कहानी में वातावरण का महत्त्व रहते हुए भी इसे स्थूलत: वाच्य नहीं बनाया जा सकता। वातावरण और परिस्थिति की अभिव्यञ्जना ही होनी चाहिये।

वातावरण या देश-काल कहानी के पात्रों के लिए प्रेरक, सहानुभूतिक, सह संवेदनशील, विरुद्ध संवेदनशील, उल्लासक, विषादक, भ्रामक, उत्साहक कई प्रकार का हो सकता है। किन्तु कहानी में समीचीन होना चाहिये।

उद्देश्य—कहानी का उपन्यास की तरह ही जीवन से सम्बन्ध है। यह यथार्थता के अब और भी अधिक निकट आ गयी है। कहानी का जन्म केवल सम्प्रदाय-विशेष के लिए ही नहीं हुआ है, कहानी शाश्वत भावनाओं को लेकर चलती है। जीवन के अश्रु, हास, पुलक, विस्मय, भय, कौतूहल, श्रद्धा, संवेदन सभी का चित्रण कहानी सफलता के साथ कर सकती है। आज के व्यस्त जीवन में कम-से-कम समय में कहानी पाठक के मस्तिष्क पर जो प्रभाव छोड़ती है वह न उपन्यास छोड़ पाता है, न काव्य; क्योंकि उनका विस्तार व काठिन्य साधारणीकृत नहीं हो पाता। कहानी के द्वारा मानव के सबल-दुर्बल पथ उभरकर सामने आ रहे हैं, चरित्र-विश्लेषण द्वारा हम विभिन्न अनुभव प्राप्त करते हैं। इस प्रकार कहानी भी जीवन की व्याख्या में सहायता पहुँचाती है। चेतना की सिकता पर अनुभव-संवेदन एवं प्रभाव की रेखाएँ छोड़ना ही कहानी का उद्देश्य है।

शैली—कहानी लिखने के कई प्रकार हैं। प्राय: निम्न लिखित ढंगों से कहानी अपनी अभिव्यक्ति कर रही है।

वस्तु की दृष्टि से

(१) **वर्णनात्मक शैली**—इसमें लेखक दूर खड़ा होकर तटस्थ भाव से कथा कहता चलता है। यथा 'एक था राजा', जैसी कहा-नियों में। प्रेमचन्द की 'शान्ति' तथा 'पंच परमेश्वर' आदि अधिकांश कहानियाँ इसी शैली की हैं। यद्यपि उनमें सम्भाषण शैली का भी प्रयोग अधिक हुआ है।

(२) **आत्मकथात्मक शैली**—अपने-आप अपना विश्लेषण करते जाना तथा सम्पूर्ण घटना का 'मैं' के माध्यम से वर्णन करना।

(३) **पत्रात्मक शैली**—इसमें पत्रों द्वारा सम्पूर्ण कहानी कह दी जाती है। सुदर्शन ने इस शैली में कई सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। पत्रात्मक शैली कहानी को और भी अधिक यथार्थवादिनी बना देती है। आत्मकथात्मक शैली में अलं-कार का भी दोष आता है, और उसके लिए एक भूमिका भी अपेक्षित होती है। पत्रों में यह स्पष्ट है कि वे किसके लिए लिखे जा रहे हैं और क्यों ? अतः स्वाभाविकता आ जाती है।

(४) **डायरी शैली**—इसमें दिनचर्या के विवरण द्वारा घटना पर प्रकाश डालते हैं। इस शैली का प्रयोग बहुत कम हुआ है। आत्मकथात्मक शैली को ही और अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए इस शैली का जन्म हुआ होगा। आत्मकथा क्यों लिखी जा रही है, यह प्रश्न होता है, पर डायरी-लेखन तो उप-योगी व्यसन है—अपने लिए ही डायरी लिखी जाती है। 'आत्मकथा' में प्रकाशन का भाव हैं, अतः आत्मकथा में कथा कहने वाला पात्र वही कहेगा जो वह सबको सुनाना चाहता है। अपनी च्युतियो; स्खलनों और दोषों को या तो वह दिखायेगा ही नहीं या उनकी और व्याख्या करेगा। किन्तु डायरी गोप्य होती है, उसमें लेखक अपने दोषों की निजी स्वीकृति देता है। अतः दोनों में महदन्तर हो जाता है।

यह कहना कठिन है कि इनमें कौन सी शैली अच्छी है। सिद्धहस्त कला-कार अपने-अपने क्षेत्र में ही कुशलता दिखाते हैं।

शैली में कला को प्रेषणीय बनाने की क्षमता होनी चाहिये। कहानी के विचारों में संगति व तार्किक क्रम हो, कोरी भावुकता तथा कोरी बौद्धिकता

कहानी के प्रभाव में सन्तुलन नहीं आने देती। भाषा व्यवहारिक मुहाविरेदार होनी चाहिये कवित्वपूर्ण दुरूह भाषा में कहानियाँ लिखना व्यर्थ है। शब्द-शक्तियों का उपयोग कहनी-कला को अवश्य उन्नत बनाता है।

कहानी का प्रारम्भ व अन्त कहानी के लिए अत्यन्त महत्त्व पूर्ण हैं। आरम्भ करते समय प्रयुक्त वाक्यों में पाठक के मन को आकर्षित करने की अद्भुत शक्ति होनी चाहिए।

अन्त के निर्वाह में तो कलाकार की समस्त सफलता का रहस्य ही होता है। चरम पर ले जाकर छोड़ना और सो भी ऐसे आकर्षक वाक्यों द्वारा जिससे पाठकों की जिज्ञासा समाप्त होने पर भी विलीन न हो जाय। कहानी समाप्त कर देने पर भी पाठक कहानी द्वारा दिये गये सत्य पर सोचने को विवश हो जाय, बस यही कहानी की शैली की सबलता है।

हिन्दी कहानी का विकास

आरम्भिक—कहानी का आरम्भ विश्व में सबसे प्रथम लिखित रूप में भारत में ही हुआ माना जाता है। उपनिषदों की रूपक-कथाओं महाभारत के उपाख्यानों तथा बौद्ध-साहित्य की जातक-कथाओं, और जैन-कथा-कोषों में तथा पंचतंत्र में कहानी साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास सुरक्षित है।

नीति-धर्म की शिक्षा के लिए या मनोरंजन के लिए उस युग में कथाएँ लिखी जाती थीं परन्तु मनोरंजन के लिए लिखी गयी कथाएँ संस्कृत-साहित्य में कम प्राप्त होती हैं।

धार्मिक—याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी और नचिकेता से सम्बन्धित आख्यान धार्मिक कथाओं के अन्तर्गत आते हैं। काव्य-काल में महाभारत और रामायण की वीर-कथाओं का तथा पुराणों की कथाओं का प्रसार दिखायी पड़ता है।

साहित्यिक—इसके पश्चात् क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मंजरी' बाण, की 'कादम्बरी,' दण्डी का 'दशकुमार चरित,' बसुबन्धु की 'वासवदत्ता'। इसी प्रकार 'कथा-सरित्सागर' (यह मूल में पैशाची भाषा में थी) तथा 'माधवानल-कामकन्दला' आदि कहानियाँ और कहानियों के संग्रह मिलते हैं। इन्हें साहित्यिक कह सकते हैं।

प्रकार की घटनाओं का सृजन करके पाठक के मन में कौतूहल, जिज्ञासा, आश्चर्य, आनन्द आदि भावों का उद्रेक किया जाता है। हिन्दी में प्रारम्भिक काल में जासूसी ही कहानियाँ लिखी गयीं, यथा-गोपालराम गहमरी, की जासूसी कहानियाँ तथा किशोरीलाल गोस्वामी जी की आख्यायिकाएँ इसके भी कई भेद हो सकते हैं। यथा:—

घटना प्रधान कहानी

१. साहसिक कहानियाँ	२. ऐतिहासिक	३. रहस्यमय	४. कार्य प्रधान
गोपालराम गहमरी दुर्गाप्रसाद खत्री, आदि की कहानियाँ	तथ्य-प्रधान कहानियाँ प्रेमचन्द की रानी 'सारंधा' वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियाँ	कहानियाँ तिलिस्म वशीकरण वैज्ञानिक खोजों के आधार पर लिखित कहानियाँ	कहानियाँ प्रेमचन्द की प्रतिकार दिवाला आदि चन्द्रधर गुलेरी की 'उसने कहा था'

टूटी सुराही
आदि।

कार्य-प्रधान कहानियों में चरित्र-चित्रण का भी समावेश रहता है, जैसा 'उसने कहा था' में है।

२. **चरित्र-प्रधान कहानियाँ**—इनमें कार्य का आकर्षण कम और चरित्र-विश्लेषण का सौन्दर्य अधिक रहता है। घटना नाममात्र को ही रह सकती हैं, परन्तु कथाकार चरित्र-चित्रण के बल पर पाठक को मंत्र-मुग्ध कर देता है। यथा—प्रेमचन्द का 'दफ्तरी', बौड़म, गुलेरी जी की 'उसने कहा था' और कौशिक जी की 'ताई' आदि।

चरित्र-प्रधान कहानियों में कई विधान रहते हैं—

१. कठिनाइयों में डालकर द्वन्द्व सामने रखकर चरित्र की परीक्षा की जाती है। इससे कहानी में अद्भुत आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। अपने ही अंतर्विरोधों में पड़कर मनुष्य की मनःप्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। इसके कारण चरित्र-प्रधान कहानियों के दो वर्ग हो जाते हैं—(अ) वे कहानियाँ, जिनमें मनुष्य का प्रकृति और परिस्थिति तथा बाह्य-घटनाओं और प्रतिपक्षी पात्रों से संघर्ष होता है और उन्हीं में से चरित्र-विकास होता है। (ब) वे कहानियाँ, जिनमें पात्रों को अपने व्यक्तित्व के विभाजित हो जाने से मन और अन्तः-करण का अन्तःसंघर्ष झेलना पड़ता है।

२. इन कहानियों में चरित्र के एक ही पक्ष का चित्रण होता है। यथा 'बौड़म' में स्वार्थ-त्याग व सेवा का वर्णन है। 'ताई' में हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है।

३. घटनाओं के आघात से चरित्र में परिवर्तन होना दिखाया जाता है। यथा—प्रेमचन्द की 'शान्ति' में।

४. मनोवैज्ञानिक चित्रण ही कथाकार का उद्देश्य रहता है। घटना या पात्रों के परिचय आदि से कोई विशेष सम्बन्ध यहाँ नहीं रहता।

वातावरण-प्रधान कहानियाँ—इसमें कहानी का उद्देश्य एक वातावरण विशेष की अवतारणा करना होता है। इन कहानियों में पात्र अथवा घटना वातावरण की सृष्टि करने में ही योग देते हैं। घटनाओं, कथोपकथनों, प्रकृति-चित्रणों द्वारा एक चित्र-सा सम्मुख उपस्थित हो जाता है, उस चित्र में अव-साद-विषाद-उल्लास का प्रभाव पैदा करने की शक्ति पैदा की जाती है। घट-नाओं के भीतर एक मुख्य भावना का सूत्र भी रखा जाता है। यथा-प्रेमचन्द के 'शतरंज के खिलाड़ी' में शतरंज की बुरी प्रथा का चित्रण है और साथ ही वाजिदअली शाह के समय का दृश्य भी आँखों के सम्मुख घूम जाता है। ऐसी कहानियों में प्रेमचन्द यथार्थतापूर्ण चित्रण देते हैं। और प्रसाद जी कल्पना एवं कवित्वपूर्ण। नाटकीयता, आदर्शवादिता तथा रोमांस उनकी वातावरण-प्रधान कहानियों की मुख्य विशेषताएँ हैं। जैसे 'आकाश दीप' में।

३. भावप्रधान कहानियाँ—इन कहानियों में घटना, चरित्र-चित्रण, वातावरण से भी अधिक प्रभाव पर जोर दिया जाता है। जैसे संगीत में गाने के शब्दों का महत्त्व नहीं होता, महत्त्व तो उस प्रभाव का होता है जो ध्वनि की संयोजना और आरोह-अवरोह से उत्पन्न होता है। इस प्रकार की कहानियों में प्रसाद जी की कुछ कहानियाँ ऊँचा स्थान रखती हैं। इस प्रकार की कहानियाँ अभी हिन्दी में कम लिखी गयी हैं।

अन्य विविध कहानियाँ

हास्य पूर्ण	उद्दीप्तिवादी	प्रतीकवादी
जी० पी० श्रीवास्तव	उग्र	
अन्नपूर्णानन्द	तथा	
पृथ्वीनाथ भट्ट	चतुरसेन शास्त्री की कहानियाँ	

हास्य कहानियाँ—एक अलग वर्ग में रखी जानी चाहिये। इनका शिल्प विचित्र और भिन्न प्रकार का होता है। इनका मुख्य उद्देश्य हँसी उभारना होता है।

उद्दीप्तिवादी—इन कहानियों में किसी प्रकार की नैतिक मर्यादा का ध्यान नहीं रखा जाता। भावों को उद्दीप्त करने वाले चित्रणों की ओर ही दृष्टि रहती है, दुर्बलताओं को अनावृत करना ही इनका उद्देश्य है। इन में कुरुचि का भी समावेश हो जाता है। उद्दीप्ति के कारण शैली अत्यन्त प्रभावशालिनी और सरस हो जाती है।

प्रतीक वादी—इन कहानियों में पात्र मन की भावनाओं अथव अनुभूतियों के प्रतिनिधि रहते हैं। सूक्ष्म भावनाओं को तरंगित करने के लिए ये कहानियाँ लिखी जाती हैं। सांकेतिकता का प्रयोग विशेष होता है। इनमें रूपक तत्व (Allegoricalelment) भी आ सकता है। प्रसाद जी का 'आकाश दीप' में 'आकाश दीप' तो 'प्रतीक' है, पर कहानी में 'रूपकत्व' भी है।

सच्ची कहानियाँ—

कहानियों के इस वर्गीकरण के उपरान्त 'सच्ची कहानी' पर भी ध्यान जाता है। क्या इसे हम एक नया वर्ग मान सकते हैं ? इधर 'सच्ची कहानी' लिखने की ओर रुचि बढ़ी है। पहली बात तो यह द्रष्टव्य है कि 'सच्ची कहानी' का एक वर्ग होगा तो दूसरा शेष समस्त वर्ग 'झूठी कहानियों' का वर्ग हो जायगा। 'झूठी कहानी' का भी कोई अर्थ हो सकता है क्या ? 'कहानी' शब्द यह बताता है कि उसे यथार्थ जगत में ज्यों का त्यों पाना कठिन है। आज के युग की कहानी की मूल भूमि यथार्थ पर ही खड़ी होती है, किन्तु उसका एक तन्तु कहीं से एक तन्तु कहीं से प्राप्त होता है। इससे भी अधिक प्रत्येक कहानी का सत्य कल्पना-प्रसूत होते हुए भी संभावित यथार्थ होता है, मनो-जगत और भूत-जगत दोनों का संभावित यथार्थ। किन्तु इसी योजना से भिन्न योजना सच्ची कहानी में होती है, क्योंकि 'सच्ची कहानी' का संपूर्ण वृत्त एक ही वृत्त होता है, और जगत में यथार्थतः घटित होता है; वह संभावित घटना पर नहीं, घटित घटना पर बना होता है। इसी विशिष्टता को बताने के लिए 'सच्ची' विशेषण लगाया जाता है, इसमें भी 'कहानीकार' को ऐतिहासिक कहानी लेखक के शिल्प और कौशल का उपयोग करना पड़ता है पर ऐतिहा-सिक कहानी लेखक की कहानी का गौरव इतिहास के पात्रों के यथार्थ नामों पर ही निर्भर करता है, किन्तु 'सच्ची कहानियों' में वृत्त तो सच्चा होता है, पर 'नाम' कल्पित। कहानियों के पात्रों के नाम भर बदल दिये जाते हैं।

पञ्चम अध्याय

जीवनी लेखन

यहाँ तक कथा-साहित्य के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। कथा से मिलता-जुलता साहित्य-रूप 'जीवनी वर्ग' का होता है। कथा में वर्णन-विवरण (Narration) शिल्प का उपयोग होता है। इसी शिल्प का एक प्रयोग 'जीवनी साहित्य' में मिलता है।

भारतीय मेधा इस दृश्यमान जगत् के परे चिरन्तन सत्य की खोज में तत्पर रही है। उसने पारलौकिकता के आगे ऐहिकता को कभी महत्त्व नहीं दिया, भौतिकतावादी विचार-धाराओं ने कभी-कभी किसी युग में मानव-सृष्टि में मानव-दृष्टि को स्थूल जगत् के प्रति मोड़ना चाहा---जैसे चार्वाक आदि ने, किन्तु इस देश की चिन्ता-शक्ति को स्थूल से सान्त्वना कभी न मिली। उसने 'नाम और रूपात्मक' जगत् की सत्ता को कभी महत्ता प्रदान नहीं की। तात्त्विक ज्ञान की पिपासा के कारण जीवन का उद्देश्य भी आध्यात्मिक महा सत्य को प्राप्त करने का ही रहा। अतः यहाँ के दार्शनिकों ने अपने अस्तित्व के विषय में, अपने जीवन और तत्सम्बन्धित अन्य घटनाओं के विषय में स्वयं कुछ न लिखा। वह तो अपने को बिन्दुवत् मानकर महासिन्धु ब्रह्म में समाहित होने

के लिए ही विकल रहा। मोक्ष की चिन्ता में, जिसमें अपने अस्तित्व का विलीनीकरण ही होता है, अपने जीवन पर प्रकाश डालने की क्या आवश्यकता थी। व्यष्टि की साधना समष्टि के लिए होती रही। वैदिक ऋषियों से लेकर महाभारत, रामायण तथा पुराण युग तक किसी ग्रन्थ-कर्ता ने अपने जीवन के विषय में प्रायः कुछ नहीं लिखा। हम वाल्मीकि, व्यास आदि के विषय में प्रायः कुछ नहीं जानते। अठारह पुराणों का सृष्टा अपने ऊपर कुछ न लिख सका। यह भारतीय दार्शनिक एवं साहित्यिक के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का ही परिणाम था।

महात्मा गौतम बुद्ध के विषय में हमें कुछ विवरण अवश्य प्राप्त होता है परन्तु जिस प्रकार सुकरात पर हमें बहुत सा साहित्य प्लेटो के वाद-विवाद में मिल जाता है वैसा बुद्ध के विषय में प्राप्त नहीं। कालिदास तथा अजन्ता के चित्रकार भी अपने विषय में मौन रहे।

अशोक के स्तूपों तथा स्तम्भों से अवश्य अशोक के विषय में कुछ बातों का ज्ञान होता है पर अशोक का उद्देश्य तो धर्म-प्रचार ही था, आत्म-प्रचार नहीं।

इसी प्रकार गुप्त वंश के प्रथम और उसके पश्चात् अगणित जल व स्थल के यात्रियों ने अन्य देशों की यात्राएँ की होंगी, परन्तु मार्कोपोलो की तरह किसी भारतीय यात्री ने अपना विवरण नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि जीवन-चरित्र लिखने की प्रणाली हमारे यहाँ प्रचलित ही नहीं हो सकी; और आत्म-चरितात्मक साहित्य तो एक एक प्रकार से और भी अधिक अधूरा ही रहा।

कवियों ने राजाओं के सम्बन्ध में चमत्कारक घटनाएँ लिखीं, किन्तु अपने सम्बन्ध में उनकी वाणी मौन रही। टीकाकारों ने कवियों पर अवश्य कुछ प्रकाश डाला, परन्तु वह काव्य-सम्बन्धी वाद-विवाद का रूप ही अधिक पा सका, जीवन-चरित्र जैसी वस्तु न आ सकी,

धार्मिक प्रचारकों तथा दार्शनिकों के शिष्यों ने अपने-अपने गुरुओं को अवतार बनाकर अथवा अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से उनके चमत्कारों की दृष्टि से

केवल अनुश्रुतियों के रूप में उनके जीवन पर प्रकाश डाला। उन्होंने अलौकिकत्व अधिक रखा, वास्तविकता कम।

इस प्रकार मुस्लिम-आक्रमणों तक आत्म-चरितात्मक तथा जीवन-चरितात्मक साहित्य प्रायः अप्राप्य रहा। मुगलों के शासन में हमें प्रथम बाबर के अपने संस्मरण जहाँगीर, के अपने लिखे जीवन-चरित्र और संस्मरण आदि प्राप्त होते हैं। मुसलमान शासकों में इस प्रकार की परम्परा थी। अस्तु।

अँग्रेजी-साहित्य के अध्ययन से भारत में भी आधुनिक युग में जीवनी लिखने की रुचि बढ़ी। अतः यहाँ आत्मचरितात्मक साहित्य पर बाबर और जहाँगीर की परम्परा का प्रभाव न था, इस प्रकार का साहित्य सीधा यूरोप के साहित्य से अनुप्राणित हुआ।

प्रथम युद्ध के पश्चात् युरोपीय साहित्य में स्वपक्ष-मंडन की प्रवृत्ति बढ़ती गयी, नेताओं, योद्धाओं तथा विचारकों में भी आत्मश्लाघा के भाव बढ़ते गये। द्वितीय महायुद्ध से तो यह प्रणाली बहुत प्रकाश मे आयी। अपनी कार्यवाहियों को न्यायूपूर्ण ठहराना जैसे कर्तव्य समझा जाने लगा, अतः आत्म-अभिव्यक्ति की प्रकृति ने विश्व-भर में आत्मचरितात्मक साहित्य को प्रोत्साहन दिया। महात्मा गाँधी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और जवाहरलाल नेहरू ने सुन्दर आत्म-कथाएँ लिखीं, रवीन्द्रनाथ जी के संस्मरणों ने भी बहुत प्रसिद्धि पायी। इसमें महात्मा गाँधी की 'आत्मकथा' साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की रचना थी। नेहरू जी की जीवनी आत्मकथा की दृष्टि से उतनी नहीं जितनी सामयिक राजनीतिक धारा की टिप्पणी के रूप में सर्वश्रेष्ठ थी।

आत्म-कथा, जीवनी, संस्मरण तथा डायरी का भेद

आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण एवं डायरी तीनों ही आत्म-अभिव्यक्ति से संबंधित हैं। 'संस्मरण' में तो केवल कुछ चुने लोगों के जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन रहता है। ये घटनाएँ वे होती हैं, जिनसे लेखक प्रभावित होता है। यथा हिन्दी में महादेवी जी के संस्मरण अति प्रसिद्ध हैं। डायरी में लेखक अपनी दिनचर्या तथा दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाली घटनाओं का वर्णन करता है। यह तिथि-क्रम से लिखी जाती है।

प्रायः इन तीनों में एक-दूसरे के तत्त्व मिले रहते हैं ; संस्मरणों का

जीवनी में तथा डायरी का संस्मरणों में समावेश हो जाता है। बाबर की आत्म-कथा भी है और संस्मरण व डायरी भी। डायरी में व्यक्तित्व की उन्मुक्तता अधिक रहती है। संस्मरणों में नायक के जीवन की घटनाओं के साथ अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी आ सकती हैं। जीवनी में कलात्मकता एवं एकसूत्रता अधिक रहती है। जीवनी में व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति रहती है।

प्रेरणा

मानव में अपने जीवन को शब्दबद्ध करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रहती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् भी संसार उसका स्मरण करे। विशाल स्मारक, कलापूर्ण भवन, उच्च कोटि के काव्य, चित्र आदि इसीलिए बनाये या रचे जाते हैं। समाज में आत्म-चेतना जितनी बढ़ती जाती है, उतनी ही लालसा ऐसी वस्तुओं के निर्माण की बढ़ती जाती है। साथ ही मनुष्य विचारों की सार्थकता, व्यवहार की न्याय-परकता तथा आदर्शवादिता को भी दूसरों पर प्रकट करना चाहता है।

आत्म-चरित-अध्ययन

जीवनी के अध्ययन में पाठक की वृत्ति प्रायः निम्नलिखित सूत्रों पर चलती है—

१. पाठक ऐतिहासिक तथ्यों से परिचित होना चाहता है।

२. व्यक्तित्व की गरिमा से प्रभावित होकर पाठक का कौतूहल जागृत हो जाता है।

३. पाठक अपनी नैतिक शक्ति को उन्नत करने तथा जीवन-संघर्षों पर विजय पाने के लिए प्रेरणा ग्रहण करके के लिए धार्मिक राजनीतिज्ञों, नेताओं, योद्धाओं तथा विचारकों की जीवनियों के अध्ययन में रत होता है।

प्रकार

जीवन-चरित्र दो प्रकार से लिखे जाते हैं - प्रथम तो कोई अन्य पुरुष किसी व्यक्ति-विशेष से प्रभावित होकर उसका जीवन-चरित्र लिखता है। ऐसे जीवन-चरित्रों में लेखक को कई असुविधाएँ हो सकती हैं। उसके पास पूरी सामग्री न हो, नायक के प्रति उसका श्रद्धा भाव इतना बढ़ जाय कि वह उसके दोषों को स्वीकार ही न करे। दूसरे स्वयं अपना जीवन-चरित्र (आत्मकथा) लिखा जाय।

इसमें स्वयं अपनी जीवनी सार्थक, वास्तविक तथा उपयोगी रहती है। डॉ० जॉनसन ने भी लिखा था—"Every man's life may best be written by himself." हाँ, ऐसे आत्म-चरित्रों में लेखक के संकोच, अहंकार अथवा व्यक्तिगत रुचियों से दोष उत्पन्न हो सकता है।

जीवनी कब लिखी जाय

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि जीवनी किस अवस्था में लिखनी चाहिए। जीवन के मध्याह्न के पश्चात् लिखी गयी जीवनियों में सत्य व कल्पना का संयोग रहता है क्योंकि व्यक्ति अपनी स्मृति में सभी घटनाएँ रक्षित नहीं रख सकता। संसार के जीवनीकारों ने यौवन-काल के पश्चात् ही जीवनियाँ लिखी हैं। रूसो ने अपने 'कनफैशन्स' को ५७ वर्ष तक पूरा नहीं कर पाया था। गेटे, गिब्बन, रवीन्द्रनाथ, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा गाँधीजी ने भी अपनी ढलती अवस्था में ही जीवनियाँ लिखी हैं।

निकोल्स ने युवावस्था में २५ वर्ष की अवस्था के लगभग ही जीवन-चरित्र लिखने का परामर्श दिया है। अतः इस विषय में 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' का सिद्धान्त ही ठीक है। तथापि प्रथम डायरी लिखकर यदि घटनाओं को रक्षित किया जा सके और परिपक्व अवस्था में जीवनी लिखी जाय तो संतुलन भी रहता है और कल्पना की अवतारणा की भी गुञ्जायश कम रहती है। जो हो, जीवनी लिखना भी एक उच्च कोटि की कला है।

कसौटी एवं महत्व

जीवनी की कसौटी क्या है ? यह तो निर्विवाद है कि जीवनी में नायक होता ही है, केवल एक ही व्यक्ति 'नायक' होता है। नायक के जीवन-वृत्त की घटनाएँ भी होती हैं, यद्यपि इन घटनाओं को उपन्यास अथवा कहानी की भाँति आदि-अन्त का मेल मिलाकर नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, ये तो नायक के जीवन-सूत्र में पिरोये हुए मणि-मुक्ताओं की भाँति एक के अनन्तर दूसरी तिथि-क्रम से ही उपस्थित की जाती हैं, पर उनमें कथात्मक रोचकता तो होगी ही, घटनाओं और नायक के क्रिया-कलापों की पृष्ठभूमि और वातावरण भी अनिवार्य है। नायक की प्रेरणाओं के स्रोत क्या हैं, और नायक से किसको कब क्या प्रेरणा मिली इसको भी समाविष्ट करना होता है। पर इन सबमें नायक

का मनोवैज्ञानिक चैतन्य अथवा उसका चैतन्य मन और अचैतन्य अवचेतन मानस को सजीव रूप से, संयम से और शैली के रस से सिक्त करके चित्रित करना होता है, न तो जीवनी को उपन्यास बनाया जा सकता है, न किसी मशीन के कार्यों का विवरण। सजीव मनुष्य की यथार्थ प्रवृत्तियों को रोचकता सहित चित्रित करना ही अभीष्ट होता है। इसमें दो बातें आवश्यक हैं—

१. सेल्फ कौंशसनैस—आत्म-चेतना; अपने को पहचानने की शक्ति का होना।

२. रससिक्त संस्मरण—कहानी कहने की शक्ति तथा कलापूर्ण शैली जीवनी को उच्च कोटि के साहित्य में रख देते हैं।

जीवनी को पढ़कर हम दूर से पहचान लेते हैं कि गांधीजी एक असाधारण व्यक्ति हैं। डा० राधाकृष्णन दार्शनिकता से तथा जवाहरलाल नेहरू एक अद्भुत व्यक्तित्व की गरिमा से मण्डित लगते हैं। कन्हैयालाल मुन्शी के स्मरण शिशु एवं सखी अत्यन्त मधुर और उत्सुक जीवन की याद दिलाते हैं, जब कि डा० राजेन्द्रप्रसाद की आत्म-कथा में एक सरलता तथा महानता दोनों साधना में पककर प्रतिविम्बित हो रही हैं। जीवनी को पढ़कर हम व्यक्ति-विशेष के अश्रु-हास-पुलक-उच्छ्वासमयी चेतना से परिचित होते हैं। मानवता के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण देन है।

हिन्दी-साहित्य में जीवनी-साहित्य का विकास

भारतेन्दु युग से प्रथम हमें हिन्दी-साहित्य में कुछ वार्ताएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें सन्तों के भक्तिपूर्ण आख्यान हैं। 'भक्त-माल', 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि। इन्हीं के साथ प्रियादास की 'भक्तमाल की टीका' तथा हरिराम जी की 'भाव प्रकाश' भी परिगणनीय है। सन्तों तथा भक्तों के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी से पूर्व और भी वृत्त लिखे गये, पर इनको जीवनियों का स्थान नहीं मिल सकता है, अधिकांशतः ये अनुश्रुतियाँ है। आधुनिक युग में जीवनी-साहित्य पर्याप्त लिखा गया। भारतेन्दु में जीवनी लिखने का दिशा-निर्देश स्वयं भारतेन्दु जी ने किया। उन्होंने 'सूरदास जी की जीवनी' लिखने का प्रयत्न किया था। भारतेन्दु की मृत्यु के उपरान्त ही उन पर एक बृहद् जीवनी लिखी गई थी।

आत्म-चरित्र

आत्म-चरितों के सम्बन्ध में तं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी के एक लेख का निम्न उद्धरण उपयोगी है—

"जहाँ तक आत्म-चरित लिखने की प्रथा का सम्बन्ध है आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी का नम्बर सबसे अव्वल आता है। कविवर बनारसीदास 'जैन का अर्द्ध-कथानक' आज से ३११ वर्ष पूर्व सन् १६४१ ई० में लिखा गया था। इससे अधिक पुराना आत्म-चरित मराठी, बंगला, गुजराती इत्यादि में भी मिलना सम्भव नहीं। स्वयं रूसो का आत्म-चरित, जो अपनी स्पष्टवादिता के लिए प्रसिद्ध है, इस ग्रन्थ से कितने ही वर्षों बाद लिखा गया था। 'अर्द्ध-कथानक' की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसमें कविवर ने अपने जीवन की अनेक साधारण-से-साधारण घटनाओं की ही चर्चा नहीं की, बल्कि अपने दुश्चरित्रों को भी खुल्लमखुल्ला स्वीकार कर लिया है। किसी तरह का दुराव-छिपाव नहीं किया है।

उदाहरणार्थ कविवर ने अपनी प्रणय-कथा का वर्णन स्पष्ट शब्दों में कर दिया है। चौदह वर्ष की उम्र से ही वह प्रेम-पयोनिधि में फँस गये थे और भयंकर बीमारी ले बैठे थे। परिणाम जो होना था वही हुआ। उनके जो नौ बच्चे हुए वे सभी काल कवलित हो गये और दो पत्नियाँ भी चल बसीं। फिर भी उन्होंने तीसरी शादी की—

> नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।
> ज्यों तरवर पतझार ह्वै रहैं ठूँठ से होइ।

'अर्द्ध-कथानक' से देश की तत्कालीन परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कविवर बनारसीदासजी महाकवि तुलसीदास जी के समकालीन थे और सम्भवतः उन्हें महाकवि के सत्संग का सौभाग्य ही प्राप्त नही हुआ था, प्रत्युत उनसे वह प्रमाण-पत्र भी मिला था कि आपकी कविता मुझे प्रिय है।

'अर्द्धकथानक' के बाद नम्बर आता है कविवर बिहारी के कुछ आत्म-चरितात्मक दोहों का, जो सम्वत् १७२१ के लिखे हुए हैं। यद्यपि दोहों की शिथिलता को देखकर यह शंका उत्पन्न होती है कि शायद ये सतसई के लेखक

द्वारा लिखे गये न होंगे, तथापि उनमें वर्णित घटनाएँ सर्वथा सत्य प्रतीत होती हैं। 'बिहारी विहार' के दोहे हमें आज से ३१, ३२ वर्ष पहले इन्दौर में स्व० पं० हरिप्रसाद चतुर्वेदी से प्राप्त हुए थे और हमने उसी समय वे पण्डित श्रीधर पाठक, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा बाबू श्यामसुन्दरदास को भेज दिये थे।

इन दोहों में वृन्दावन में कविवर बिहारी ने नागरीदास जी के यहाँ शाहजहाँ के आगमन का वृत्तान्त लिखा है और वहीं पर कविवर ने शाहजहाँ को अपनी कविता भी सुनायी थी। शाहजहाँ इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें आगरे आने के लिए निमन्त्रण दे दिया—

"हम उनकी कविता करी भये प्रसन्न बड़ भाव।
चलन कही हमसों तबहि अर्गलपुर में आव॥
मध्य आगरे जमुन तट दुर्ग अगम आगार।
बसे तहाँ बहु काल पुनि करि कविता बिबहार॥"

इसके बाद जयपुर-नरेश के यहाँ जाने और इस प्रसिद्ध दोहे के बनाने का भी इतिहास दिया है।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों रम्यो, आगे कौन हवाल॥

आधुनिक काल में स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी ने आत्म-चरित लिखने प्रारम्भ किये थे, पर दुर्भाग्य की बात है कि वे अधूरे ही छोड़ दिये, मिश्र जी ने अपने लेख की भूमिका में आत्म-चरितों की महिमा का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग पर किया था—

'एक घास का तिनका हाथ में लीजिये और उसकी भूत तथा वर्तमान दशा का विचार कर चलिये तो जो-जो बात उस तुच्छ तिनके पर बीती है, उसका ठीक-ठीक वृतान्त तो आप जान ही नहीं सकते, पर तो भी इतना अवश्य सोच सकते हैं कि एक दिन उसकी हरीतिमा सब्जा किसी मैदान की शोभा का कारण रही होगी, कितने बड़े-बड़े रूप-गुण-बुद्धि विद्यादि विशिष्ट उसके देखने को आते होंगे, कितने ही क्षुद्र कीटों एवं महान् व्यक्तियों ने उस पर विहार किया

होगा, कितने ही क्षुधित पशु उसके खा जाने को लालायित रहे होंगे। अथवा उसको देखकर यह जानने की इच्छा होती है कि न जाने कैसी मन्द वायु, 'कैसी अपघोर वृष्टि, कैसे कोमल कठोर चरण-प्रहार का सामना करता आज इस दशा को पहुँचा है। कल न जाने किस अग्नि में जलकर भस्म हो इत्यादि। जब तुच्छ वस्तुओं का चरित्र ऐसे-ऐसे भारी विचार उत्पन्न करता है, तो यह तो एक मनुष्य पर बीती हुई बातें हैं। सत्याग्रही लोग इन बातों से सैकड़ों भली-बुरी बातें निकालकर सैकड़ों लोगों को चतुर बना सकते हैं।

स्व० मिश्रजी ने अपने लेख में लिखा था "हमारी सभा में तो जितने मनुष्य हैं सबका जीवन-चरित लेखनी-बद्ध होना चाहिये। हमारे देश में यह लिखने की चाल नहीं है, इससे बड़ी हानि होती है। मैं उनका बड़ा गुण मानूँगा जो अपना वृत्तान्त लिखकर मेरा साथ देंगे।" खेद की बात है कि तत्कालीन लेखकों ने मिश्रजी का साथ नहीं दिया। हाँ केवल राधाचरण जी गोस्वामी ने एक बारह पृष्ठ की पुस्तिका लिखी, वह भी बड़ी मनोरंजक है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

'मुझे अंग्रेजी शिक्षा पर बहुत श्रद्धा हुई और मैंने अंग्रेजी पढ़ने की ठान ली। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ उसमें अंग्रेजी पढ़ना तो दूर की बात है, यदि कोई फारसी-अंग्रेजी का शब्द भूल से मुख से भी निकल जाय तो बहुत पश्चात्ताप करना पड़े। अस्तु मैंने गुप्त रीति से अंग्रेजी आरम्भ की....'

गोस्वामीजी ने लिखा है कि एक बार उनके पूज्य पिताजी ने, जो फारसी शब्दों के व्यवहार के बड़े विरोधी थे, बन्दूक चलने का वर्णन श्री साहजी साहब से इन शब्दों में किया था—

'लोह नालिका में श्याम चूर्ण प्रवेश करके अग्नि जो दीनी, तो भड़ाम शब्द भयो' खेद की बात है कि गोस्वामीजी ने अपनी पुस्तक विफल अपूर्ण ही छोड़ दी। यही नहीं उन्होंने बिलकुल ही मनोरंजक बातों का उल्लेख नहीं किया।

पूज्य द्विवेदी जी से मैंने प्रार्थना की थी कि वह आत्म-चरित लिख दें।

पर तब तक वह काफी वृद्ध हो चुके थे और हिन्दी-प्रकाशकों से अत्यन्त निराश थे, इसलिए उन्होंने यह अस्वीकार ही कर दिया। पर उनके कई पत्र ऐसे हैं हैं जिनसे उनके जीवन-चरित पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'मेरी आत्म-कहानी' अवश्य लिखी है और वह भी साधारणतः एक अच्छी चीज कही जा सकती है, यद्यपि कहीं-कहीं उसमें ऐसे कटु प्रसंग आ गये हैं जिनको छोड़ देने से पुस्तक का महत्त्व कुछ भी नहीं घटता। हिन्दी का सर्वोत्तम आत्म-चरित श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसाद की आत्म-कथा है। उसकी सरलता और सादगी ही उसका सर्वोत्तम गुण है।

इधर बन्धुवर हरिभाऊजी उपाध्याय, श्री वियोगीहरि जी, स्वामी भवानी-दयाल संन्यासी, राहुल जी तथा बाबू गुलाबराय जी ने भी आत्म-चरित लिखे हैं।

बन्धुवर भगवानदास जी केला ने कई वर्ष पहले आत्म-चरित लिखा था, पर उसे छापने का अवसर अभी तक नहीं आया।[1] इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को हमने अभी हाल ही में पढ़ा है और उससे हमें बहुत स्फूर्ति मिली है।

यह भी कोई आवश्यक बात नहीं कि केवल साहित्यिक लोग ही आत्म-चरित लिखें। विलायत में तो अनेक वेश्याओं, चोरों तथा डाकुओं ने भी ऐसे ग्रन्थ लिखे हैं। हमारे राजनीतिक कार्यकर्ता, जो सौभाग्य से लेखक भी हैं, ऐसे आत्म-चरित लिख सकते हैं जो अत्यन्त मनोरंजक होंगे।

अंग्रेजी में 'इनसाइड आउट' नामक एक वृहद् ग्रन्थ ही है, जिसमें आत्म-चरितों का विश्लेषण किया गया है।

जो भी महानुभाव इस विषय में रुचि रखते हैं, उन्हें टालस्टाय, महात्मा गांधी, प्रिन्स क्रोपाटकिन, गोर्की, स्टीफन ज्विग, जवाहरलाल नेहरू इत्यादि के आत्म-चरित पढ़ लेने चाहियें[2]।"

सत्यानन्द की रचनाएँ उत्कृष्ट आत्म-कथा के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। उन्होंने अनुमानतः ३००० पृष्ठों में अपने जीवन से सम्बन्धित जीवनियाँ

१. यह अब प्रकाशित हो गया है।

२. देखिए 'साहित्य-सन्देश' जुलाई, १९५० पृ० ३१

लिखीं। 'मुझमें देव जीवन का विकास' तथा 'अपने देव जीवन के विकास और जीवन वृत्त की सिद्धि के लिए मेरा अद्वितीय त्याग' आदि रचनाएँ उच्च कोटि की है। ये १९१० से १९१४ के बीच की हैं।

भाई परमानन्द की 'आप बीती', राम बिलास शुक्ल की 'मैं क्रान्तिकारी कैसे बना।' भवानीदयाल संन्यासी की 'प्रवासी की कहानी' तथा घनश्यामदास बिड़ला के 'डायरी के कुछ पृष्ठ' ये ग्रन्थ उत्कृष्ट रचनाओं के अन्तर्गत आते हैं।

पं० किशोरीदास वाजपेयी की आत्मकथा भी महत्त्वपूर्ण है।

जीवनियाँ

संत चरित्र—इस प्रकार की जीवनियों में प्रायः संतों तथा सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के चरित्र हैं। यथा स्वामी श्रद्धानन्द लिखित 'आर्य पथिक लेखराम', तथा स्वामी सत्यदेव का 'स्वामी श्रद्धानन्द' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

राजनैतिक जीवनियाँ—इस दिशा में मुकुन्दीलाल वर्मा ने 'कर्मवीर गांधी' लिखा। डा० राजेन्द्रप्रसाद द्वारा लिखित 'चम्पारन में महात्मा गांधी', मन्मथनाथ गुप्त द्वारा 'चन्द्रशेखर आजाद', जगदीश नारायण तिवारी द्वारा 'सुभाषचन्द्र बोस,' रामनरेश त्रिपाठी द्वारा 'मालवीय जी के साथ तीन दिन,' तथा बिड़ला द्वारा लिखित 'श्री जमनालाल जी' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

स्फुट रचनाएँ—किशोरीलाल गोस्वामी का 'नन्हेलाल गोस्वामी' व निराला जी का 'कुल्ली भाट' रोचक जीवनियाँ हैं परन्तु राजनैतिक तथा धार्मिक महापुरुषों की जीवनियों के आगे इस प्रकार की रोचक रचनाओं की परम्परा को बल नहीं मिला।

ऐतिहासिक जीवनियाँ—इस दिशा में प्रसाद जी, सम्पूर्णानन्द, गोपाल दामोदर तामस्कर, ब्रजरत्नदास, गौरीशंकर चटर्जी, लज्जाराम मेहता नन्द कुमारदेव आदि ने विभिन्न ऐतिहासिक पुरुषों तथा साहित्यिक पुरुषों के जीवन पर प्रकाश डाला है।

शिवनन्दन सहाय ने 'गौरांग महाप्रभु' एक रोचक रचना दी।

जीवनी कोष—वे ग्रन्थ जीवनी-कोष के अन्तर्गत आते हैं जिनमें कितने ही लेखकों तथा कवियों की जीवनियाँ, भले ही संक्षेप में हों, सम्मिलित हैं।

द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ने 'हिन्दी चरिताम्बुधि' लिखकर जीवनी-कोष का अभाव पूरा किया। प्रायः जीवनी-कोष हमारे साहित्य में बहुत कम लिखे गये।

नवीन युग में भक्त-चरित्र लिखने की प्रणाली भी पूर्णतया लुप्त नहीं हो सकी। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी की 'भक्त चरितावली' व हिम्मतदास-कृत 'भक्त चरितामृत' प्रसिद्ध हैं।

अनूदित जीवनियों का हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यथा जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी', यदुनाथ सरकार का 'शिवाजी', हरि भाई देसाई का 'विनोबा व उनके विचार' तथा 'गांधी-वाणी', लाजपतराय जी का 'मेजनी', बलवन्त परसनीस की 'झाँसी की रानी' आदि रचनाएँ अति प्रसिद्ध हुई।

अत्यन्त नवीन प्रकाशनों में महाप्राण निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, कन्हैयालाल पोद्दार तथा जयशंकर प्रसाद की जीवनियाँ उच्चकोटि की हुई हैं। महादेवी जी के संस्मरण 'अतीत के चलचित्र' में है। इनमें आत्म-कथा का सूत्र तो है पर प्रधान विषय निज जीवन नहीं, निज जीवन की अन्य-विषयक अनुभूतियाँ हैं। पन्तजी के अपने जीवन के सम्बन्ध में लिखी हुई भूमिकाओं से साहित्य के विद्यार्थियों को बड़ी सहायता मिलती है।

जब से कवियों व साहित्यकारों की मनोवृत्तियों तथा उनकी व्यक्तिगत घटनाओं को जानने की रुचि वर्द्धित हुई है तब से इस ओर भी लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ है।

इण्टरव्यू

'इण्टरव्यू'-लेखन अब एक स्वतन्त्र कला के रूप में विकसित होता जा रहा है।

इण्टरव्यू से लेखकों के जीवन के क्रम-विकास का अध्ययन करने में बड़ी सुविधा होती है। मानसिक जीवन जितना जटिल, सूक्ष्म तथा व्यस्त होता जाता है, उतनी ही इस प्रकार के प्रयोगों की आवश्यकता बढ़ती जाती है। किन्तु हिन्दी में अभी यह परम्परा विकसित नहीं हो पायी। भविष्य के लिए शुभ संकेत अवश्य दिखायी पड़ रहे हैं।

इण्टरव्यू अथवा 'भेंट' में किसी व्यक्ति से मिलकर किसी विशेष दृष्टि से

प्रश्न पूछे जाते हैं। इसमें इण्टरव्यू-लेखक जीवनी का पुट देता है और उत्तरों के द्वारा इण्टरव्यू का नायक 'आत्म-चरित्र' की शैली उपस्थित करता है। इस प्रकार 'इण्टरव्यू के द्वारा नायक के वाह्य के साथ आन्तरिक स्वरूप का विशेष अध्ययन भी हो जाता है।

विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों पर प्रकाश पड़ने की आवश्यकता है। स्वयं लेखक, नेता, दार्शनिक, वैज्ञानिक अपनी जीवनी अवश्य लिखें। यह तो व्रत हो जाना चाहिये, यही नहीं सामान्य श्रेणी के लोगों की भी जीवनी लिखी जानी चाहिये। प्रत्येक जीवनी के उत्थान-पतन में मानवता को शिक्षा देने के तत्व विद्यमान रहते हैं।

अभी हमें बासबैल, निकोलस कैलनी, रूसो जैसे जीवनी लेखक उत्पन्न करने हैं।

जीवनी में कला—

वस्तुतः जीवनी किसी व्यक्ति का मात्र ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत किया गया 'चरित' नहीं है। जीवनी लेखन कला है। इसमें 'जीवन' में अनुभूत 'सौन्दर्य' को कलात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। नायक के जीवन का सौन्दर्य लेखक की उस सौन्दर्य-गत अनुभूति से मिलकर लेखक की सुन्दर भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, तभी जीवनी सफल होती है। आत्म-कथा का लेखक भी स्वयं अपने जीवनगत सौन्दर्य को लेखक-गत सौन्दर्य से मिलाकर, कला प्रस्तुत करता है।

षष्ठम अध्याय

निबंध : सिद्धान्त

निबन्ध भी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की तरह मानव की अभिव्यक्ति का एक रूप है। आज के युग में कहानी एवं निबन्धों का प्रत्येक भाषा के साहित्य में अत्यधिक प्रचार है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम अभिव्यक्ति के अन्य स्वतन्त्र स्वरूपों के समान निबन्ध को एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मान सकते हैं। इस प्रश्न के उठने का कारण यह है कि विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार के निबंध लिखे हैं। इसके आरम्भिक लेखक यथा मौनटेन, बेकन आदि इसके रूप, प्रवृत्ति, विस्तार आदि के विषय में एकमत नहीं हैं। ऐडीसन लाक, मैकाले, स्पेंसर आदि के निबंधों में भी यही विभिन्नता है।

तब निबंध क्या है ?

जॉनसन निबन्ध के विषय में कहता है—"निबन्ध मस्तिष्क की सहसा उठी हुई अनियन्त्रित विश्रृङ्खल, उन्मुक्त कल्पना-शक्ति (Fancy) का परिणाम है, वह विश्रृङ्खल, अव्यवस्थित अवतरण, जो व्यवस्था से रहित एवं नियन्त्रण के परे रहता है।

किन्तु इस परिभाषा से वर्तमान समय के गम्भीर बुद्धिमूलक निबन्ध, निबन्ध ही न कहला पायँगे, अतः इस परिभाषा में अव्याप्ति तो स्पष्ट है—

मरे नामक विद्वान् कहता है—"निबंध वह रचना है जो सामान्य विस्तार वाली होती है और जो किसी विषय या विषय की शाखा पर की जाती है। वेकन निबंध को डिस्पर्सड मैडीटेशन (Dispersed Meditation) कहता है। वह निबन्ध को विरल चिन्तन-प्रधान मानता है।

सम्पूर्ण परिभाषाओं पर यदि एक साथ विचार करें तो इस अभिव्यक्ति के रूप के प्रायः निम्नलिखित पारिभाषिक तत्त्व स्थिर होते है।

१. निबन्ध ऐसे (Essay) शब्द का समानार्थी है, जिसका अर्थ है प्रयास' (Attempt)। अतः निबन्ध एक प्रयास-मात्र है। उसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि जो लिखा गया है वह अन्ततः प्रामाणिक है और उसके आगे कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. संक्षिप्तता निबन्ध का मुख्य लक्षण है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों ने निबन्ध (Essay) तथा प्रबन्ध (Treatise) में अन्तर बतलाया है। निबन्ध संक्षिप्त रचना है और प्रबन्ध अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत।

३. विचारों का चयन एवं उनका क्रमबद्ध अवतरण भी निबन्ध की मुख्य विशेषताएं हैं, किन्तु ऐसे भी निबन्ध हो सकते हैं जिनमें ऐसा कोई बन्धन न हो।

४. यह अपने में पूर्ण होता है, इसमें एक ही बात कही जाती है।

५. विचार के एक केन्द्र पर लेखक के विभिन्न विचार अभिव्यक्त होने चाहिएँ।

६. यह गद्य में ही होता है यद्यपि पोप आदि कुछ कवियों ने पद्य में भी निबन्ध लिखे हैं यथा पोप के 'समालोचना' पर निबन्ध तथा 'मनुष्य' पर निबन्ध। हिन्दी में पं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने ऐसे निबन्ध प्रस्तुत किये हैं।

इस प्रकार हम निबन्ध की रूप-रेखा समझ सकते हैं।

बेकन के अनुसार (Essay) (निबन्ध) शब्द तो नया है परन्तु इसका मूल रूप प्राचीन साहित्य में प्राप्य है, यथा (Seneca's Epistles to Lucilius)

साहित्य के अधिक निकट है। किन्तु वास्तव में फ्रान्स के लेखक मानटेन इसके आविष्कर्ता समझे जाते हैं। इनके पश्चात् इंग्लेंड के बेकन महोदय के निबन्ध आते हैं।

चूँकि इन दोनों लेखकों में भी निबन्ध के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता दिखलायी पड़ती है, प्रत्येक लेखक अपने ढंग से अपने प्रिय विषय पर लिखता है। इसलिए जॉनसन ने इसे (Loose Sally of Mind) मन की बहक–अव्यवस्थित एवं अनियंत्रित रचना कहा था, जिससे लेखक के स्वतन्त्र-दृष्टिकोण रख सकने, एवं रुचिकर शैली में अपने मस्तिष्क के विचार-प्रवाह को अभिव्यक्त कर सकने का अधिकार प्रकट हो रहा है।

शैली—

शैली का अर्थ है ढंग। विभिन्न-लेखक विभिन्न विषयों पर लिखते हैं फिर भी उन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है। विचार-धारा एक होने पर भी शैली के बल पर ही उनके व्यक्तित्व को अलग-अलग पहचान सकते हैं। शैली का सम्बन्ध १, भाषा तथा, २. प्रतिपादन इन दो बातों से होता है।

भाषा—इसके अंतर्गत शब्द-भण्डार का सबसे प्रथम स्थान है। लेखक के पास अतुल शब्द-समूह अपेक्षित है। एक ही अर्थ के विविध शब्दों के अन्तरंग भेदों का ज्ञान भी चाहिये।

२. विविध मुहावरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

३. वाक्य-विन्यास की प्रणालियों का ज्ञान अपेक्षित है।

४. श्लेष-यमक आदि शब्दालंकारों के द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन भी भाषा-शैली का अंग है।

५. शब्द-सौष्ठव, कोमल, मधुर, उदात्त, परुष, मसृण शब्दों का प्रयोग। शब्द-शैली का सम्बन्ध काव्य में प्रयुक्त वृत्तियों से हो जाता है। तभी तो शैली में व्यक्तित्व झलक उठता है।

निबन्ध में किसी वस्तु का वर्णन रहता है। उस वर्णन में वस्तु के प्रतिपादन की शैली भी लेखक, लेखक की अलग होती है। प्रतिपादन-शैली में 'रस' को संभवतः प्रथम स्थान दिया जायगा। एक ही बात को अलग-अलग रसों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके बाद, अर्थ में चमत्कार के लिए अर्थालंकारों

का उपयोग किया जाता है, इसी प्रकार उक्ति चमत्कार या वाक्-वैदग्ध्य भी वस्तु-प्रतिपादन में स्थान पाता है। तर्क, युक्ति तथा प्रमाण और उदाहरण की संयोजना का अपना महत्व इसी शैली के अन्तर्गत है, इन्ही के द्वारा वर्ण्य वस्तु उस रूप में आती है जिसमें लेखक उसे प्रस्तुत करना चाहता है।

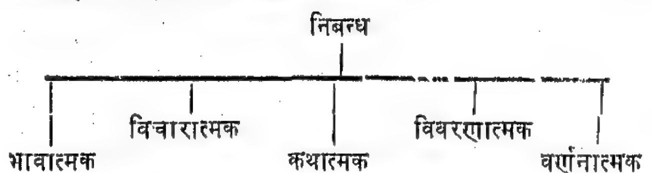
रस-परिपोष—भावुकता तथा भावोन्मेष के लिए विविध रसों का प्रयोग किया जाता है। इससे निबन्ध में मार्मिकता आती है। सरसता और रोचक आती है।

अलंकार—उपमा, रूपक, निदर्शना आदि अर्थालंकारों के द्वारा विषय में स्पष्टता, सांकेतिकता तथा तीव्रता लायी जाती है।

तर्क—तर्कों व युक्तियों के प्रयोग से कथन को सबल तो बनाया ही जाता है, नहीं, उसे बुद्धि ग्राह्य भी बनाया जाता है।

प्रमाण—प्रामाणिक ग्रन्थों, प्रसिद्ध लेखकों व विचारकों के उद्धरण तथा ऐतिहासिक साक्षियों तथा तथ्यों और आँकड़ों से प्रतिपादित करके कथन को पुष्ट किया जाता है। इन प्रयोगों को प्रतिपादन-शैली का तत्व कहा जायगा। क्योंकि इनके द्वारा ही निबन्ध के विषय का प्रतिपादन होता है।

प्रकार—विषय-निरूपण की दृष्टि से निबन्ध के कई प्रकार होते हैं। अँगरेजी निबन्ध-शास्त्र इनके प्रायः तीन प्रकार बतलाता है—१. वर्णनात्मक (Descriptive) २. कथात्मक (Narrative), ३. भावात्मक (Reflective)। किन्तु निबन्धों के हम इसके अतिरिक्त अन्य दो भाग और कर सकते हैं १. विवरणात्मक २. विचारात्मक।



१. **वर्णनात्मक**—इन निबन्धों में किसी घटना, व्यक्ति, वस्तु, आदि का वर्णन रहता है। इनमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है—

१. वर्णन व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध हो। उसमें चित्रोपमता आ जाये। प्रत्येक अवयव अपने स्थान पर रहे।

२. विशदता—यह शब्द सापेक्षिक है फिर भी विषय की गरिमा के अनुसार विशदता आवश्यक है। आवश्क बात छूट न जाय। और वर्णन में ऐसा सुग्रथित विस्तार हो कि वर्णन में प्रभाव आ जाय।

३. सूक्ष्म अध्ययन—वर्णित वस्तु के प्रत्येक अंग पर लेखक की दृष्टि पड़नी चाहिये। शुक्लजी के शब्दों में केवल नाम न गिनाये जायँ अपितु संश्लिष्ट चित्रण होना चाहिये।

४. चयन—निरर्थक बातों का वर्णन अथवा अनावश्यक शब्दों और वाक्यों का प्रयोग निबन्ध के महत्व को नष्ट करके उसमें नीरसता लाता है।

५. पूर्णता—वस्तु के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है, प्रत्यक्ष दर्शन, अध्ययन या श्रवण द्वारा पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये।

६. मौलिकता—समस्त वस्तु को अपने विचारों से अभिमंडित करके मौलिक बनाना चाहिये, अथवा नयी शैली या नवीन निष्कर्ष होना चाहिये।

वस्तु के सम्बन्ध में नवीन दृष्टि देने से मौलिकता की वृद्धि होती है।

हिन्दी में वर्णनात्मक निबन्ध प्रायः मासिक पत्र-पत्रिकाओं में निकला करते हैं। यथा हिमालय, अजन्ता, पूर्वी द्वीपों की सभ्यता, आदि से सम्बन्ध रखने वाले निबन्ध।

विवरणात्मक निबन्ध—इसमें किसी दृश्य, स्थिति या आयोजन का विवरण रहता है। इसमें एक चित्र उपस्थित नहीं किया जाता जैसा कि वर्णनात्मक निबंधों में रहता है। इसमें किसी वस्तु का क्रमबद्ध व्यौरा रहता है। मेला, यात्रा, सभा का दृश्य, आदि का विवरण रहता है। मनोहर वर्णनों का संग्रहीत रूप ही इस प्रकार के निबंधों में आता है। राहुल जी की यात्राओं के विवरण विवरणात्मक निबंधों के सुन्दर उदाहरण हैं।

विचारात्मक—आलोचनात्मक तथा दार्शनिक निबंध इसी कोटि में आते हैं। किसी कला-कृति के गुण-दोषों की व्याख्या प्रथम कोटि में तथा किसी बात पर गूढ़ विचार दूसरी कोटि में आते हैं। हिंदी में द्विवेदी जी, आचार्य शुक्ल आदि आलोचनात्मक निबंधकार हैं और भगवानदास, जयदयाल गोयन्दका, बलदेवप्रसाद उपाध्याय आदि दार्शनिक निबंधकार।

कथात्मक—इसमें कहानी तो नहीं रहती किंतु संस्मरण, रेखाचित्र तथा

ऐतिहासिक वृत्त इसी कोटि में आते हैं। महादेवी वर्मा जी के रेखा-चित्र तथा संस्मरण हिंदी-साहित्य में प्रसिद्ध हैं।

भावात्मक—इनमें भावुकता, रस, चमत्कार आदि की प्रधानता रहती है। गद्य-काव्य भी इसी कोटि में आते हैं। यथा डॉ० रघुवीरसिंह का 'ताज' पर प्रसिद्ध लेख। इसमें लेखक के मन में उठती हुई तरंगें शब्दों में बाँध दी जाती हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट का 'चंद्रोदय' पर प्रसिद्ध लेख इसी कोटि में आता है। वियोगी हरि तथा राय कृष्णदास के गद्य-काव्य भी इसी श्रेणी में गिने जायँगे।

एक ही विषय पर विभिन्न शैलियों में लेख लिखे जा सकते हैं यथा, लाल किले पर निबंध लिखते समय वर्णनात्मक शैली में इन बातों पर विचार होगा।

१. भूमिका में ऐतिहासिकता रहेगी, कारण, समय आदि का वर्णन होगा।

२. विषय-प्रतिपादन में लाल किले का चित्र-सा दिया जायगा उसके अंग-प्रत्यंग, प्रसिद्ध इमारतें, मस्जिद, राज दरबार, सुरंगों आदि का चित्र खींचा जायगा।

३. मुगलों के वैभव, बल तथा शक्ति की अन्त में विचारपूर्ण अभिव्यंजना होगी। यहाँ उत्थान-पतन के भावपूर्ण चित्र होंगे।

यदि इसी विषय पर भावात्मक निबंध लिखना है तो यह अंग-प्रत्यंग का वर्णन अवांछनीय होगा, पूरे दुर्ग को देखकर स्मृति का जो स्पंदन होगा वही आलंकारिक एवं भावुक शैली में व्यक्त होगा, यहाँ लेखक अंतर्मुख हो जायगा।

निबन्ध में निजत्व

व्यक्तित्व निबंध के सम्बंध में यह बात आज निश्चित-सी मान ली गयी है कि यह आत्म-अभिव्यक्ति का ही साधन है। अतः चाहे कोई विषय हो या विषय की शाखा हो इसमें व्यक्तिपरकता (पर्सनल टच) अवश्य होनाचाहिये। जिस प्रकार गीतियों (Lyrics) में लेखक का व्यक्तित्व शीघ्र पकड़ में आ जाता है उसी प्रकार निबंध में व्यक्तिगत स्पर्श अवश्य रहना चाहिये। आज के निबंधों में व्यक्तिगत विशेषता का अर्थ लेखक के दृष्टिकोण की स्वतंत्रता समझी जाती है। शैली की स्वच्छंदता तथा व्यक्तिगत सौंदर्य की अनुभूतियाँ ही आज के निबंधों की मुख्य विशेषताएँ हैं। वस्तुतः निबंध-रचना एक कला है।

किसी भी रचना में प्रत्येक लेखक कुछ ऐसी विशेषता लाना चाहता है कि लोग उसकी ओर आकर्षित हो उठें, यही कला है। कला का प्रभाव अचूक होता है। पाठक का हृदय मुग्ध हो उठता है। लेखक का निजी व्यक्तित्व ही यह विशेषता उत्पन्न कर सकता है। यही कारण है कि दो लेखकों की रचनाएँ एक ही विषय की होने पर भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व लिये रहती हैं।

निबन्ध के प्रारम्भ के प्रकार

निबन्ध के प्रारम्भ करने के कई प्रकार हैं। कुछ नीचे दिये जाते हैं—

१. **आवेगात्मक**—यथा: "बलिहारी है वृन्दावन की। कैसी अनुपम शोभा है ! अहा ! हा ! हा ! यमुना जी की तरंगें हमें बता रही हैं, वृक्षों के पत्ते संकेत कर रहे हैं, वाह ! वाह ! क्या कहना है" आदि। प्रायः इस प्रकार के प्रयोग अच्छे नहीं माने जाते।

२. **स्तुति-प्रधान**—इसमें स्तुति करते हुए प्रारम्भ करते हैं यथा 'कांग्रेस पार्टी' पर लिखने के लिए इस प्रकार आरम्भ हो—

"जय हो उस दरिद्रनारायण महात्मा गाँधी की, जिसने इस देश में जागृति का शंखनाद किया। वह महामानव था, महात्मा था। 'सर्व भूत हिते रतः' निष्काम कर्मयोग का जीवन्त प्रतीक। धन्य है यह भारत-भूमि, जिसने ऐसा लाल जाया !" इस प्रकार का प्रारम्भ भी पुरातनता को लिये हुए हैं। व्यर्थ का प्रलाप अच्छा नहीं होता।

३. **उद्धरण-प्रधान**—कभी कोई पद्य-खंड देकर प्रारम्भ करते हैं—यथा 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' पर निबंध लिखना है तो पंत की इन पंक्तियों से प्रारम्भ करें—

> **"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार।**
> **लोचनों का लावण्य अनूप, लोक-सेवा में शिव अविकार।।**

५. **कथात्मक आरम्भ**—कभी-कभी छोटी-छोटी कथाएँ देकर प्रारम्भ करते हैं। यथा-नैतिक बल पर निबंध लिखने के लिए महात्मा गांधी के किसी सत्याग्रह-संघर्ष का वर्णन करना।

६. **परिभाषा प्रधान**—आरम्भ में 'परिभाषा' दे दी जाती है। जैसे—रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं।

"साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब है।" "हिंदी साहित्य का इतिहास" इन्हीं पंक्तियों से प्रारम्भ होता हैं।

७. **घटनात्मक आरम्भ**—किसी घटना-विशेष का वर्णन करने के उपरान्त प्रकृत विषय पर लिखा जाता है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'श्रद्धेय केला जी' शीर्षक निबन्ध में एक घटना का उल्लेख करते हुए निबन्ध प्रारम्भ किया है।

८. **प्रश्नात्मक आरम्भ**—कभी-कभी प्रश्न करते हुए आरम्भ करते हैं। यथा 'देश-भक्ति' पर लिखते समय—

'शिवाजी ने संघर्षों की शिला पर अपना जीवन-बलिदान क्यों किया ? महाराणा प्रताप ने घास की रोटियाँ क्यों खायीं ? बापू ने वक्षस्थल पर हँसकर गोलियाँ क्यों झेलीं ? केवल देश-प्रेम के लिए, देश-प्रेम मानव की श्रेयस्करी मनोवृत्ति है।'

इसके अतिरिक्त तुलना करते हुए, कभी ऐतिहासिक विवेचन करते हुए, या कभी अन्तिम निष्कर्ष को पहले देकर ही निबंध का आरम्भ करते हैं। प्रायः यही प्रचलित प्रकार हैं और भी नवीन आरम्भ के प्रकार हो सकते हैं। यह असम्भव नहीं है कि लेखक की प्रतिभा नये आरम्भ की उद्भावना कर सके।

हिन्दी में निबन्धों का विकास

हिन्दी में निबंधों का लेखन अंग्रेजी 'साहित्य' के पठन-पाठन से आया। भारतेन्दु युग से निबंधों का प्रथम युग प्रारम्भ होता है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' निबंधों की पहली किरण थी, जिसके द्वारा भारतेन्दु जी ने अपना प्रकाश फैलाया। इनके अतिरिक्त मोहनलाल विष्णुलाल पंडया, मुंशी कामताप्रसाद, काशीनाथ खत्री तथा बलावीजर आदि उस समय के प्रसिद्ध निबंध-लेखक थे। यह समय गम्भीर विवेचन का न था। जनता में हिन्दी-पाठकों को उत्पन्न करना था अतः इस समय के निबंधों में निम्न मुख्य प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—

१. सजीवता, जिन्दी-दिली, हास्य-विनोद, व्यंग्य, २. सुधारवादिता, ३. धार्मिकता।

विकास की दृष्टि से इस काल को, १८५० से १९१४ ई० को, हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। (२) १८५९ से १७८५ ई० तक बीजारोपण। (२) १८८५ से १९०० ई० तक अंकुरणकाल (२) १९०० से १९१४ सन्धि काल।

१८७३ ई० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' प्रकाशित हुई, जिससे हिन्दी नयी चाल में ढाली गयी। इसके पहले स्वामी दयानन्द, राजा लक्ष्मणसिंह व शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने कार्य किया था। राजा शिवप्रसाद के निबन्धों की भाषा उर्दू-ए-मुअल्ला हो गयी थी और राजा लक्ष्मणसिंह जी की विशुद्ध ठेठ हिन्दी। भारतेन्दु जी ने सामान्य मार्ग अपनाया और वही आदर्श रहा।

भारतेन्तु युग के अन्य लेखक थे--बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाकृष्णदास आदि। इनमें मानटेन की विनोदात्मक पद्धति, पं प्रतापनारायण मिश्र ने व बेकन की गम्भीर शैली भट्ट जी ने विशेषत: अपने कुछ निबन्धों में अपनायी।

प्रारम्भ में इन निबन्धों में विनोद, प्रतीकात्मकता तथा व्यक्तिगत स्पर्श (Personal Touch) खूब रहा। ये निबन्ध पत्र-कला से सम्बिन्धित थे। अत: छोटे और सजीव हुआ करते थे, विषय-ज्ञान के बोझ से ये उतने बोझल नहीं थे। मुहावरों की रचना-चातुरी विशेष थी। मिश्र जी ने 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत' आदि पर तथा भट्ट जी ने भी 'आँख' 'कान' पर ऐसे ही निवन्ध लिखे। गम्भीर विश्लेषण तथा लेखकों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण की विभिन्नता आगे के युग से आयी।

द्विवेदी युग

इस युग में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस युग में द्विवेदी जी, काशीनाथ खत्री, अम्बिकादत्त व्यास, मदनमोहन भट्ट आदि लेखकों ने कार्य किया।

'बेकन विचार रत्नावली' तथा 'निबन्ध मालादर्श' चिपलूणकर के निबन्ध ये दो पुस्तकें मुख्य थीं (आचार्य शुक्ल), परन्तु ये अनूदित ग्रन्थ थे। मौलिक ग्रन्थ न हो सके। द्विवेदी जी के लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में थे। लेखकों के अन्त:प्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं थे।

इस युग में वर्णनात्मक-निबन्ध पर्याप्त लिखे गये, तथा आलोचनात्मक दृष्टि विकसित हुई। भाषा-शैली में सौष्ठव आया। व्याकरण की भूलों का निराकरण 'सरस्वती' ने किया। राजनैतिक चर्चा सामयिक प्रसंग के रूप में होने लगी। द्विवेदी जी ने अनुवादों द्वारा अलंकृत (रसज्ञरंजन), विचारपूर्ण (कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता) तथा मनोरंजक (यथा म्युनिस्पैलिटी पर निबन्ध) तीनों प्रकार के निबन्ध दिये। परन्तु इस युग में विशदतायुक्त गम्भीर निबन्ध नहीं मिलते। उपदेशात्मकता, प्रचार, आदि इस युग की प्रवृत्तियाँ है। आक्षेप व कटूक्तियों का बाजार भी गरम रहा। प्रायः निर्णयात्मक आलोचना का बोल-बाला रहा। विवेचन व विश्लेषण के दर्शन अभी न हो सके। शब्दाडम्बर भारतेन्दु-युग की कुछ प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती रहीं, क्योंकि राधाकृष्णदास व राधाचरण गोस्वामी आदि भारतेन्दु युग के लेखक अब भी लिखते आ रहे थे। दूसरी ओर चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, काशीप्रसाद, जायसवाल, चतुर्भुज आदि द्विवेदी युग के लेखक थे। द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण में श्यामसुन्दरदास, शुक्ल जी, पद्मसिंह शर्मा, कन्हैयालाल पोद्दार, लोचनप्रसाद पाण्डेय, मिश्रबन्धु, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि प्रसिद्ध निबन्धकार आये।

किन्तु इन निबन्धकारों में उन्मुक्त मानस की वह कला जो भारतेन्दु युग में दिखायी पड़ी थी, प्रायः नहीं मिलती। हाँ, बालमुकुन्द गुप्त, किशोरीलाल गोस्वामी, पं० पद्मसिंह शर्मा व अखौरी जी इसे किसी प्रकार बनाये रहे। विषय-ज्ञान की प्रधानता बढ़ चली। व्यक्तित्व ओझल होता गया। शैली में एकरसता आती गयी। सूत्रों में बातें करना पं० बालकृष्ण भट्ट से ही प्रारम्भ हो गया था। अब शुक्ल जी में उसका पूर्ण विकास दिखायी पड़ा। गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी। अध्ययन-अध्यापन, लेखन व प्रकाशन का विस्तार अब बहुत हो गया था। संस्कृत व अँगरेजी के अध्ययन ने निबन्ध-लेखकों में तुलनात्मक शक्ति को जन्म दिया। परिणाम यह हुआ कि हमें मनोविज्ञान, दर्शन, साहित्य-शास्त्र, आदि गम्भीर विषयों पर विश्लेषण व व्याख्या-प्रधान निबन्ध मिले। नेतृत्व आचार्य शुक्ल के हाथ आ गया।

वर्तमान युग में बाबू गुलाब राय, धीरेन्द्र वर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल

बख्शी, प्रभाकर माचवे, डॉ० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान आदि शतशः सबल लेखक निबंध-रचना का कार्य कर रहे हैं।

आज विकास की चरम अवस्था की ओर निबंध-साहित्य बढ़ रहा है। उसमें सजीवता है, गम्भीरता है और विस्तार भी है। गहराई है, भावुकता है और बुद्ध्यात्मकता भी है अर्थात् वर्तमान युग में विभिन्न प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रत्येक ज्ञान की शाखा पर प्रत्येक शैली में निबंधों का प्रकाशन हो रहा है। भविष्य आशामय है।

निबंध-कला और व्यवसाय—

यह विवेचन निबंध के सिद्धान्तों और उसकी विविध प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालता है। इनसे स्थूल रूप का ही परिज्ञान होता है। 'निबंध रचना' को आज एक 'कला' के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता है। उसमें शब्द, अर्थ और व्यंजना में अधिकाधिक सौन्दर्य लाने का प्रयत्न निबंध लेखकों को करना चाहिये। पत्रकार-कला के महत्त्व के साथ निबंधों का व्यावसायिक महत्त्व भी होगया है। नवीन उन्मेषशील अनेकों दैनिकों तथा साप्ताहिकों तथा मासिक पत्रों के कारण नयी शैली के निबंधों में भी इस वर्त्तमान युग में प्रगति हुई है, और एक नयी कला और नये सौन्दर्य-दर्शन और नयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सबल माध्यम निबंध बनता जा रहा है। इन प्रवृत्तियों को और अधिक पुष्ट करने की आवश्यकता है।

सप्तम अध्याय

साहित्य-समीक्षा के तत्त्व

समीक्षा की आवश्यकता

यहाँ तक साहित्य के तत्त्वों और सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इससे साहित्य का स्वरूप तो स्पष्ट होता ही है, समीक्षा के तत्त्वों के भी कुछ-कुछ आदर्श प्रस्तुत होते हैं। पर आधुनिक युग में साहित्य-सृजन की नयी प्रेरणाएँ और नये स्वरूप खड़े हुए हैं। विवादास्पद 'वाद' दृष्टि भी इस युग में पैदा हो गयी है। जिससे सब-कुछ अनिश्चित हो गया है।

साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त भी निश्चित नहीं रहे। इसमें समालोचक की निरंकुश लेखनी से अनेकों दुर्घटनाएँ घटित हुई हैं। एक नहीं, साहित्य-संसार में अनेकों ऐसे उदाहरण मिल सकेंगे जहाँ साहित्यकार को ऐसे उच्छृङ्खल समालोचकों ने वह धक्का दिया है जो उन्हें सहन नहीं हो सका है; जिसने उनके जीवन को व्यर्थ कर दिया है। जैफरे ने 'शैली' के काव्य पर जो टिप्पणी दी थी कि 'इससे काम नहीं चलेगा' (This won't do) कितने नहीं जानते कि उसने भी उसकी मृत्यु को बुलाने में सहयोग दिया था। पर, साहित्यकार के निजी प्रश्न को छोड़कर साहित्य-जगत् में भी समालोचना की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति

घोर अवसाद और विडम्बना पैदा करती है, साहित्य में ऐसी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिल सकता है जिनसे साहित्य-कर्म ही विक्षुब्ध हो उठे।

शास्त्रीय समीक्षा

भारतीय-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने पर विदित होगा कि उसके मध्यकाल में जब साहित्य कर्म अत्यन्त प्रौढ़ हो गया था, समीक्षाशास्त्र ने अपना एक प्रमुख स्थान बना लिया था। वह शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' ही कहलाता था। उस शास्त्र के द्वारा इस बात पर विचार किया गया था कि काव्य क्या है? उसके लक्षण निश्चित किये गये। उसके गुण और धर्मों का निरूपण हुआ। उसकी आत्मा को पहिचाना गया। रस, ध्वनि, अलंकार पर जो कुछ लिखा गया वह सब समालोचना-शास्त्र के नियम निश्चित करने के लिए। अतः पुरानी परिपाटी के समालोचक का मार्ग अत्यन्त निश्चित था। किसी भी रचना को ध्वनि-शास्त्र, रस-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से परखकर उसे सही अथवा गलत बता देना उसका काम था। बात-बात के लिए नियम था; या नियम की दुहाई थी, और जो नियम में न मिले—शास्त्र में जिसका उल्लेख न हो वह जैसे वर्जनीय ही थी—शास्त्र की परम्परा का यह परिणाम हुआ कि साहित्य के चारों कोने बाँध दिये गये। व्यक्ति के निजी ज्ञान और अनुभव के लिए इस प्रणाली में स्थान नहीं था।

यह समालोचना-प्रणाली शास्त्रीय थी और जहाँ तक जाती थी वैज्ञानिक थी। पर ऋषियों में अन्धश्रद्धा के परिणाम-स्वरूप इसमें वैज्ञानिक विकास होने वाली ज्ञान-वृद्धि के लिए स्थान नहीं रहा—नये युगों की नयी बातों के प्रति इसमें सहिष्णुता नहीं हो सकती थी। यह एकांगी भी थी—साहित्य-कर्म भी एकांगी था। वह प्रणाली जैसे ऊपर से आरोप लेकर चलती थी।

युग पलट गया—बीच के काल में समालोचना का बिलकुल अभाव हो गया। प्राचीन साहित्य-शास्त्र निष्प्राण हो गया। नयी बातें, नये विषय, नये उद्देश्य और नये ध्येय सामने आये। साहित्य के मूल्य में परिवर्त्तन हो गया। समीक्षा को भी नये रूप-रंग ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ी—और

आज हम नई प्रणाली के समीक्षा-शास्त्र की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं—तो विचारना यह है कि समीक्षा-शास्त्र के मूल सिद्धान्त क्या हों ?

समीक्षा-शास्त्र और दृष्टि-भेद

शास्त्र को, जैसे विज्ञान को, किसी 'वाद' 'स्कूल' अथवा 'ध्येय' से नहीं जकड़ा जा सकता। विज्ञान, विज्ञान है—वह शुद्ध विज्ञान तभी है जब केवल ज्ञान वृद्धि के उद्देश्य को पूर्ण करता हो। प्रत्येक शास्त्र भी विज्ञान की कोटि का है। विज्ञान के आविष्कारों को व्यावहारिक रूप में उपयोग में लाने पर कोई उसे नर-संहार का साधन बना सकता है, कोई मानवीय सुख-समृद्धि का, कोई व्यापार-वर्द्धन का। किन्तु विज्ञान को फल से, उसके उपयोग से दूषित करके देखने पर वह विज्ञान विकृत होगा, अतः हेय होगा। शास्त्र भी उसी प्रकार किसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बनेगा, उसमें उसकी शास्त्रता-मात्र का ध्यान न रखा जायगा तो शास्त्र-विक्षुब्ध हो जायगा और वह उन अभिप्रायों को ईमानदारी से कभी पूरा नहीं कर सकेगा जिनके लिए उसका निर्माण किया गया है, अथवा शास्त्रों के वाद-भेद और दृष्टि-भेद खड़े होंगे तो हम एक ही जगह पर खड़े होकर उन बातों के लिए झगड़ते दिखायी पड़ेंगे जिन पर कभी एक हाथी को देखने वाले चार अन्धे लड़े थे, और जिन पर हम आज हँस लेते हैं। यानी एक आदर्शवादी समीक्षा-शास्त्र बनेगा, दूसरा यथार्थवादी समीक्षा-शास्त्र, तीसरा छायावादी समीक्षा-शास्त्र, चौथा प्रगतिवादी समीक्षा-शास्त्र, इतिहासवादी, भविष्यवादी न जाने कितने समीक्षा-शास्त्र बनेंगे और उनमें शास्त्रीयता न होकर अहंता होगी, तर्क होगा जिसे वितंडा कहा गया है; तो समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्णय करने के लिए जब हम आगे बढ़ें तो वाद और प्रवाद की कालोंच न लगी हो—हाथ रँगे न हों, स्वच्छ हाथ हों नहीं तो फल कुछ ऐसा ही होगा जैसा पक्षपात रखने वाले विद्वानों में मिलने लगता है कि उदाहरणार्थ, आदर्श चाहते हुए भी आदर्शवाद का विरोध करेंगे—निश्चय ही वे वह चीज न दे सकेंगे जिसे देने के लिए आगे बढ़े हैं।

तो हम अब देखें कि साहित्य-समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्णय कैसे किया जाय ?

समीक्षा का विषय और वस्तु

प्रश्न यह है 'साहित्य' में समीक्षा किसकी होगी ? साहित्य को देखने पर हमें विदित होता है वह एक वस्तु है—ए थिंग । वस्तु इसलिए कि उसमें लेखक-कवि-सात्यिकार कुछ देता है, जो वह दे रहा है वह वस्तु ही हो सकती है, नहीं तो उसे खोखला कहा जायगा । यानी साहित्य शून्य को घेरे हुए मात्र ढोल नहीं जो गूँजता-ही-गूँजता है । वह लड्डू है, जिसमें वह लड्डूपन तो बनाने वाले के कारण है और जिस वस्तु से वह बना है वह वस्तु मूलतः बनाने वाले के लिए भले ही हो, उसके कारण नहीं । तो साहित्यकार जो देता है वह वस्तु है ।

कुछ कहेंगे कि वस्तु-मात्र ही साहित्य है । इसका अर्थ हुआ कि लड्डू का उदा-हरण लें, बेसन, घी, शक्कर बस यही वस्तु अभीष्ट है । उसकी गोलाई हमारे लिए व्यर्थ है । हम यह क्यों देखें कि वह कैसा रंगीन, छोटा अथवा बड़ा—कैसा है । हम तो यही जान लें कि बेसन घी, ठीक हैं, वह योग्य है । उसी से हमें सम्बन्ध है कि वह खाया जा सकता है, उससे भूख बुझती है, जीवन के लिए वही नितान्त आवश्यक है, जीवन का उससे ही सम्बन्ध है—गोलाई-पीलाई, छोटाई-बड़ाई से नहीं । हमें इनको इस रूप में समझने का आवश्यकता ही क्या है ?

और यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जो कुछ और जैसी कुछ भी समीक्षा हो, वह है किसके लिए । क्या, जैसा कला के लिए कह दिया जाता है, कभी समालोचना के लिए भी कहा जा सकता है कि वह 'स्वान्तः सुखाय' है ? कला तो अन्तरानुभूति का उद्गार कही जाती रही है, और उसे व्यक्त करने में मनुष्य की अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति की मूल मानवी प्रेरणा ही प्रधान हो सकती है—उस अवस्था में काव्य 'स्वान्तः सुखाय' हो सकता है—केवल स्वार्थ प्रेरणा से उद्भूत । समालोचना–समीक्षा किसलिए का एक उत्तर तो बहुत स्पष्ट और सहज यह विदित हो सकता है कि रचना की वस्तु को ठीक-ठीक समझना । इस दृष्टि से समालोचना अथवा समीक्षा स्वान्तः सुखाय चाहे न भी हो वह 'स्व-अध्ययनाय' तो हो ही सकती है । मैं स्वयं वस्तु को समझना चाहता हूँ, और इसके लिए जो प्रयत्न किया है, वही उसकी

समीक्षा है। पर 'समीक्षा' यहीं पर समाप्त नहीं हो लेती। समीक्षाकार का वह 'स्व' पाठक का 'स्व' है—वह स्वयं समझना चाहता है और इसका एक अर्थ यह भी है कि वह पाठकों को भी समझाना चाहता है। इसलिए समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं तो क्या समीक्षा का सम्बन्ध रचना और पाठक से ही है, लेखक से नहीं; यानी क्या समीक्षाकार लेखक को कुछ नहीं बता सकता ? जहाँ तक 'समझना' भर है, पाठक तक ही समीक्षा रहेगी, लेखक तक पहुँच नहीं सकती। ऐसी दशा में समीक्षा केवल इतना भर कह सकती है कि वह कैसा है, क्या है, क्यों है ? 'है'—विज्ञान के अंतर्गत ही तब समीक्षा-शास्त्र को रहना होगा। पर विदित यह होता है कि चीज यहीं तक नहीं रहती। पाठक में अध्ययन करने के उपरान्त उसके संबंध में चाहना भी उत्पन्न हो सकती है। वह जो चाहता है वह भी तो कह सकता है—लेखक जाति से वह आशा भी कर सकता है, और यदि लेखक केवल लेखनी ही पकड़ जानता है, पाठकों की मेधा उसके पास नहीं है, तो लेखक को उसका कर्तव्य भी तो पाठक बता सकता है। यह सब उसी अध्ययन का परिणाम है। तो क्या इस 'चाहिये' के परामर्श को समीक्षा का अंग समझा जा सकता है ? या नहीं ?

समीक्षा और आदर्श

'चाहिये' शब्द थोड़ा विविधार्थी है। यह 'चाहिये' हमारी चाह (Want), आवश्यकता (need or necessity) का भी द्योतक है, 'अभाव' की पूर्ति की माँग भी है। यह 'चाहिये' कर्तव्य के अभाव को न बताकर उसके 'आदर्श' की कल्पना के अर्थ में भी आ सकता है-तब वह 'Ought' से संबंध रखेगा, तब वह Normative Science का अङ्ग बनेगा। अभाव का पता तो साधारण पाठक को भी लग सकता है—हमें जो आवश्यक है उसमें क्या नहीं है यह जानना कठिन नहीं, यदि हम जानते हैं कि क्या आवश्यकता है हमें ? वस्तुतः इस आवश्यकता का जानना जहाँ आवश्यक है वहाँ कठिन भी बड़ा है, क्योंकि साहित्य की आवश्यकता—वह भी लिखित साहित्य की आवश्यकता—ठीक-ठीक शारीरिक आवश्यकता (Physical needs) की भाँति नहीं। Physical needs क्या हैं ?—भूख, प्यास, काम, शरीर को सुख पहुँचाने की चाह। इनके अभाव में शारीरिक क्लान्ति बढ़ जाती है, प्राण-रक्षा कठिन प्रतीत होती है—इनके

अभाव सबको सम भाव से सताते हैं—इनके लिए उपयोगी पदार्थ के अभाव को भी हम तुरन्त जान लेते हैं। संसार का कोई भी मनुष्य बिना भोजन और पेय के नहीं रहा। पर साहित्य की कितनों को आवश्यकता है। वस्तुतः साहित्य कोई आवश्यकता है ही नहीं। अर्थशास्त्र के शब्दों में सामान्यतः वह मात्र Luzury है, Comfort भी नहीं। अतिरिक्त शक्ति(Surplus energy) जिनके पास है, जो उनकी अपनी दैनिक शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बच रहती है, उसीमें साहित्य का बीज और उपयोग तथा उपभोग है। वह शारीरिक आवश्यकता नहीं सांस्कृतिक आवश्यकता भले ही हो। वह Cultural necessity हो सकती है। जहाँ प्रश्न प्रगति और उन्नति का है वहाँ मनुष्य इसी Culture या संस्कृति के क्षेत्र में उन्नति कर पाता है। भूख-प्यास, काम, शरीर-सुखों के विषयों में उन्नति और प्रगति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—इन मूल तत्वों में विकास नहीं। वहाँ, सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रतिदिन ऊँचाई-नीचाई का प्रश्न है। अतः इस क्षेत्र की आवश्यकताओं का शारीरिक चाहों की भाँति अनुभव नहीं होता, ये परिस्थिति और प्रतिभा का फल होती हैं। इनमें विकास और आदर्श दोनों का भाव मिलता है। आदर्श तो विकास का मार्ग निश्चित करता है, दिशा बनाता है और विकास प्रस्तुत परिस्थितियों के आगे का व्यावहारिक द्वार है। परिस्थितियों से कल्पना जागृत होकर आदर्श की सृष्टि करती है। परिस्थितियों के सङ्गठन में अभाव और उत्पीड़न दोनों ही हैं—इसके इलाज में विकास और उन्नति है। डार्विन के सिद्धान्त का यदि इतना ही अर्थ ग्रहण किया जाय कि 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' और 'योग्यतम की विजय' ही सृष्टि में विकास के कारण हैं और ये दोनों केवल भौतिक-भर हैं, इनमें मानसिक प्रक्रिया का कोई भाग नहीं तो क्या भीषण भूल न होगी? अस्तित्व बनाये रखने के संघर्ष में, जीवित रहने (सरवाइवल) में अपने को जयी बनाने की भावना निहित है—और 'योग्यतम' सर्वोच्च कोटि का शब्द है जिसका उपयोग क्या आप जड़ जगत् की भाँति मानसिक जगत् में भी घटित हो चुकने के बाद, ऐतिहासिक निर्णय देने के समय ही कर सकते हैं? मानव-कल्पना और मानव-मन तो इस 'योग्यतम' का रूप उसके घटित होने से पूर्व भी खड़ा कर सकता है, और किसी विगत योग्यतम को देखकर उसे अनुकरणीय समझकर उसी का भी

परामर्श दे सकता है। आदर्श (Ideal) के सदा ही दो रूप हो सकते हैं। एक तो अपने लिए कोई अकल्पनीय-असम्भव जैसी आदर्श की कल्पना की जा सकती है। स्वर्ग-नरक को ऐसी ही कल्पना कहा जा सकता है। इसमें भी दो प्रकार हो सकते हैं—एक तो संसार के संघर्षों से बचकर एक मधुर गगन में विचरण करने के लिए बनाया हुआ आदर्श (ideal), स्वर्ग-कल्पना (Utopia) जैसी कही जायगी। कल्पना की यह प्रवृत्ति; और आदर्श-निर्माण में केवल यह प्रवृत्ति पलायनवादियों (Escapist) की रचना में हो सकती है, या होती है। दूसरा, संघर्ष में अपने अभावों को देखकर पूर्णता की भावना का चित्र खड़ा कर लेना—इसमें पलायन नहीं, प्रगति है। यह आदर्श प्रेरणा देने के लिए, उत्तेजित करके आगे बढ़ाने के लिए भी होता है। लेखक जब इस प्रकार के आदर्श की अवतारणा करता है तो स्वाभाविक रचनात्मक कार्य करता होता है। यह उसके कर्म का (Constructive) रचनात्मक प्रोग्राम होता है। परा-पुरुष (Super-man) का भाव इसी रचनात्मक मेधा का परिणाम है, (Social order) समाज-विधान के सम्बन्ध में मार्क्स का सुझाव भी इसी का फल है। (Socialism) समाजवाद आज (real) वास्तविक नहीं, (Ideal) आदर्श ही है। कोई भी (Ideal) भाव और भाव-सिद्धान्त (Idelogy) जब तक (Realisation) संप्राप्ति की हद तक नहीं पहुँचता (Ideal) आदर्श ही रहता है।

साहित्य की वस्तु

वस्तु, साहित्य की वस्तु क्या है ? मात्र, विषय, वस्तु-दृष्टि से, ज्ञान-विज्ञान की वस्तु हो सकता है, साहित्य में विषय-मात्र का प्रतिपादन नहीं आ सकता। भूगोल, इतिहास, गणित ये विषय-मात्र 'साहित्य' की सीमा में नहीं आ सकेंगे। 'मानव' की इनमें प्रधानता होगी तभी ये 'साहित्य' होंगे। भूगोल के सम्बन्ध में, तथा इतिहास के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि अधिकाधिक 'मानव' के दृष्टिकोण से इन विज्ञानों का अध्ययन होना चाहिये, वस्तुतः 'साहित्य' 'अध्ययन' नहीं और साहित्य के अतिरिक्त शेष सभी 'अध्ययन' हैं। साहित्य में मानव के 'जीवन' की अनुभूतियाँ होती हैं। समीक्षा में साहित्य का इसी वस्तु 'अनुभूति' की विवेचना होगी।

सत्य, शिव, सुन्दर

यहाँ अनुभूति के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। अनुभूति विषय की नहीं हुआ करती, विषय के द्वारा होती है। अनुभूति एक प्रकार का (revelation)उद्‌घाटन-सा है, एक सहज-ज्ञान है, जो किसी विषय के सम्पर्क में आने से मानव-प्रतिक्रिया के रूप में, मानव के द्वारा मानव के लिए सहज ही प्रकाशित हो उठता है। विज्ञान का शुद्ध ज्ञान भी ऐसे ही होता है, जैसे सेब के गिरने पर आकर्षण-शक्ति का ज्ञान हुआ। यह शुद्ध ज्ञान—अभिप्राय है वस्तु गत ज्ञान से—साहित्य की वस्तु नहीं। पर जब ऐसा ही शुद्ध ज्ञान मानव और उसके जीवन से संपर्कित हो तो वह सहज ज्ञान साहित्यिक अनुभूति होगी। साहित्यकार की इस अनुभूति को तीन बड़े भागों में अब तक बाँटा जाता रहा है—१ सत्य, २ शिव, ३ सुन्दर। जब साहित्यिक की अनुभूति 'दर्शन' के लिए उत्सुक है तो वह 'सत्य' का ज्ञान प्राप्त करेगी। दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष 'सत्य' का उल्लेख होता है। दर्शन अखंड और शाश्वत सत्य की तलाश करना चाहता है, और वह यह पाता है कि हम जो देखते हैं जिसे प्रत्यक्ष समझते हैं वह विनश्वर में भी एक अविनश्वर है—वही अखंड सत्य है। दर्शनकार इस विनश्वर की परीक्षा करके जिस अविनश्वर की रूप-रेखा तैयार करता है, वह परोक्ष कहने भर के लिए है। उसके बिना प्रत्यक्ष अपना अर्थ छोड़ बैठता है। उपनिषदों में इस बात पर विचार करके विद्या-अविद्या, सत-असत दोनों का अस्तित्व माना गया है, और जो एक को मानता है दूसरे को नहीं, वह सत्य से दूर समझा गया है। प्रत्यक्ष के बाद परोक्ष नहीं तो भविष्य का अभाव माना जायगा। प्रत्यक्ष की प्रगति इसी विश्वास पर है, कि परोक्ष में भविष्य भी है, और वह अतीत से एक सूत्र में आबद्ध है। इस परोक्ष-चित्रण में ही अनुभूति-कल्पना 'आदर्श' खड़ा करती है। समीक्षाकार को आदर्श से घृणा करना और उसे केवल पलायनवाद बताकर ठुकरा देना उचित न होगा—यह असत्याचरण होगा, साहित्य के साथ अन्याय होगा। उसे तो अपनी शक्ति और वैज्ञानिक प्रणाली से यही देखना अभीष्ट होगा कि वह आदर्श केवल पलायन है, मिथ्या है, प्रगति और विकास के विरुद्ध और विपरीत अतः असत्य और वास्तविक सत्य से दूर है। यदि ऐसा नहीं तो 'आदर्श'

कितनी ही पूर्णता का चित्र क्यों न उपस्थित करे, वह श्लाघ्य होगा। और ऐसा स्वस्थ 'आदर्श' रखने में दर्शन से साहित्य धर्म पर पहुँच जायगा, 'शिव' उसका अभिप्राय हो जायगा।

The escape of thought from the imperfections of the actual into a thought organised ideal is Art; its projection, dragging present action with it into a more perfect future, is true Religion.

[from Julian Huxley's, An Hour's Psychology.]

सत्य-शिव के साथ सौन्दर्य भी आता है। कोई-कोई तो साहित्य की अनुभूति का विषय केवल सौन्दर्य ही मानते हैं। सौन्दर्य का हमारी रागात्मिका-वृत्ति से सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रश्न यह है कि जिधर रागात्मिका-वृत्ति प्रधावित हो जाय, उधर ही सौन्दर्य मान लिया जायगा। अथवा, जहाँ सौन्दर्य है वहीं रागात्मिका वृत्ति जायगी। यह अनुभूत सत्य माना जायगा कि लड्डू में स्वाद प्रतीत होने लगने पर ही मन के लड्डू भी खाये जा सकते हैं। राग को जागृत करने के लिए सौन्दर्य की चकमक चाहिये। वह जितना बाहर है उतना ही भीतर भी। 'स्वर' कान से सुनते हैं पर उसका उद्भव बाहर होता है। कान नहीं तो बात का स्वर भी अर्थ-रहित। कान न हों तो हम 'स्वर' का ज्ञान नहीं पा सकते। ज्ञाता (subject) बिना ज्ञेय (object) के और ज्ञेय (object) बिना ज्ञाता (subject) के अस्तित्व भले ही रखे अर्थ नहीं रख सकते। गुलाब के पुष्प को देखकर उसके सौन्दर्य को सभी अनुभव करते हैं। इस सौन्दर्य के परिज्ञान (perception) के विषय (content) से अन्य गुलाबी रंग की वस्तुएँ भी सुन्दर कही जा सकेंगी। 'सौन्दर्य' का बाहरी अस्तित्व भी मानना होगा। अनुभूति से वह हमें प्राप्त होता है अतः हम उसे अनुभूत ही मानें और उसका अनुभूति से पृथक् अस्तित्व न पायें तो यह बात बुद्धि-सङ्गत नहीं होगी। वृहत्तर मानव की गतिमान सङ्गत कल्पना में आये सौन्दर्य को भी यदि आप अनुभूत मानकर उससे दूर रहने का आदेश करेंगे तो संस्कृति का विकास रुक जायगा। सौन्दर्य का ज्ञान हमें यदि मानव-अनुभूति के द्वारा हो लेता है, अपने से एक पृथक् सत्ता

की भाँति जैसे वैज्ञानिक को विद्युताणुओं (Electrons) की शक्ति (Energy) का ज्ञान हो लेता है प्रयोगशाला में बैठकर, तो इसलिए क्या उस सौन्दर्य की अनुभूति प्रत्येक साधारण को सम्भव नहीं। हम उसे असम्भव मानकर मानव की महान् शक्तियों और उन शक्तियों से अभिषिक्त महानों का हम अनादर करें समीक्षा-शास्त्री को इसे भली प्रकार समझकर चलना होगा।

सौन्दर्य और उपयोगिता

पंजाब का एक ग्राम्यगीत है, उसमें ग्राम बालाएँ अपनी भैंसों को हूर-जैसी सुन्दर समझती हैं। उन पर मुग्ध होती हैं। यह बात उपयोगिता में ही सौन्दर्य का ज्ञान कराती है। जो उपयोगी है वही सुन्दर है। या जो जितना उपयोगी है वह उतना ही सुन्दर है। इस प्रकार सम्बन्ध-अनुपात के गणितीय सूत्रों द्वारा सौन्दर्य और उपयोगिता का सम्बन्ध-निदर्शन उतना ही अपूर्ण है जितना यह कि जिसमें जितनी ही उपयोगिता कम उतना ही सुन्दर। सौन्दर्य निश्चय ही भाव-जगत् की वस्तु है, और उपयोगिता भूत-जगत् की। उपयोगिता भौतिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाले गुणों में है। तो क्या अधिकाधिक गुणों का होना ही सुन्दरता है, या सुन्दरता भी एक गुण है। यह माना जायगा, और अनुभव ही इसे सिद्ध करेगा कि अन्य अनेक गुणों की भाँति सुन्दरता भी एक गुण है—और अन्य गुणों का जैसे परस्पर का नित्य सम्बन्ध नहीं, अतः सौन्दर्य की उसी प्रकार सुन्दरता की भी अनुभूति तभी हो सकती है जब अन्य गुणों के साथ सौन्दर्य का गुण भी वर्तमान हो। अत्यधिक उपयोगी वस्तु में भी बहुत सौन्दर्य हो सकता है और नहीं भी हो सकता, और नितान्त अनुपयोगी वस्तुओं में भी सौन्दर्य हो सकता है। अतः किसी भी समीक्षक को किसी पक्षपात में फँसकर यदि कहीं सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य है, उपयोगिता नहीं तो उसे फेंककर उसकी अवहेलना करना उचित न होगा। ऐसा करेगा तो समीक्षक के पद से वह च्युत हो जायगा। वस्तु में यदि सौन्दर्य है तो उसे कहना ही होगा कि है, वह उसमें उपयोगिता का अभाव बतला सकता है, उपयोगिता का परामर्श दे सकता है।

इस प्रकार उसे अनुभूति का, उसके सत्य-शिव-सुन्दर का, विचार करना होगा। उनका ऐतिहासिक मूल्य भी लगाना होगा।[1]

विविध सम्प्रदाय

हिन्दी आलोचना की एक बलवती धारा मार्क्सवादी भी है। एक हद तक हिन्दी के अनेक लेखक इस विचार-धारा से प्रभावित हुए हैं। व्यक्ति को सामाजिक परिस्थितियों से अलग काटकर देखने का प्रयत्न अब हिन्दी-साहित्य में कम हो रहा है। मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अंग मानते हैं। वे कला को एक ऐतिहासिक ढाँचे में रखकर देखते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए वे उन परिस्थितियों की विवेचना करते हैं, जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती हैं, अथवा कुण्ठित करती हैं। साहित्य को सामाजिक विकास-क्रम का दर्पण मानते हुए, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कला समाज और राजनीति की गति प्रभावित कर सकती है। अतएव कला को समाज की प्रगतिगामी शक्तियों में परिणत करना चाहते हैं। इस ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी-साहित्य का निरन्तर मूल्यांकन किया है।

मार्क्सवादियों ने आलोचनाशास्त्र और आधुनिक साहित्य पर ही अधिकतर लिखा है। इस दृष्टिकोण से पुराने साहित्य की विवेचना अभी बहुत कम हुई है।

सत्य-शिव-सुन्दर क्षेत्र में बँधी हुई आलोचना की एक धारा तो साहित्य-कलावादी नाम से बड़े प्रबल वेग से आज तक चली आ रही है। इस प्रबल धारा की कितनी ही लघु शाखाएँ हमें दिखायी पड़ती हैं। कोई शाखा तो पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की भाँति शास्त्रीय सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी गहराई में पैठकर कवि की भाव-सम्पत्ति की नाप-जोख करती है। इस शाखा

---

१. देखिये 'कला, कल्पना और साहित्य'—पृष्ठ १८-३२।

के प्रधान समीक्षकों में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति को गिना जा सकता है। इसकी एक शाखा अपनी आलोच्य प्रवृत्ति को बाह्य अनुसन्धान से परिपुष्ट करके कवि की आन्तरिक सम्पत्ति की ठीक-ठीक चूल बैठाने और इस प्रकार उनका ऐतिहासिक मर्म स्पष्ट करके कला के स्वरूप को हृदयंगम करने की चेष्टा करती है। वह कवि के अन्तर्विश्लेषण से अधिक उसकी पृष्ठभूमि को हृदयंगम करने में सचेष्ट है—इस शाखा में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को प्रमुख माना जा सकता है। एक शाखा समन्वय को महत्त्व देती हुई विषय-प्रवृत्ति, पृष्ठभूमि, कवि, शास्त्र तथा भाव-सम्पत्ति सभी को सानुपातिक दृष्टि से प्रस्तुत करती है। बाबू गुलाबराय इस शाखा के अग्रगण्य आलोचक माने जा सकते हैं। एक शाखा इस समस्त कला-सृष्टि के मूल मानसिक मर्म का अनुसन्धान करती है, किन्तु वह इस मर्म का मूल अब चेतन-मानस अथवा कुण्ठा में निर्धारित करती है। कोई कला-कृति के विश्लेषण के साथ उसके 'प्रभाव' से अधिक आक्रान्त होकर कला के स्वरूप को प्रस्तुत करने में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की भाँति संलग्न मिलते हैं। इसी के अन्तर्गत वह शाखा भी है जो विश्वविद्यालयों के साहित्यिक शोध में प्रवृत्त है, उनकी शैली में विश्लेषण, वर्गीकरण और सिद्धान्त-समीक्षण की एकेडेमिक पाण्डित्य की प्रणाली मिलती है। अधिकांश डाक्टर उपाधिधारी आलोचकों को इस शाखा के अन्तर्गत सहज ही रखा जा सकता है। किन्तु ये सब शाखाएँ एक ही अत्यन्त प्रबल धारा की हैं। इसके अन्तर्गत और भी कितने ही आलोचक हैं, जिनका नामोल्लेख अवकाशाभाव से नहीं किया जा रहा।

उपसंहार

हिन्दी के समीक्षा-शास्त्र की यह संक्षिप्त रूपरेखा है। इसमें चेष्टा यह की गयी है कि भारतीय परम्परा के साहित्य-शास्त्र के स्वरूप का भी परिचय मिले, और नवीन समीक्षा के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला जाय।

हिन्दी का समीक्षा-शास्त्र प्राच्य और पाश्चात्य प्रणालियों से ही नहीं, वहाँ की साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रणालियों से भी प्रभावित हुआ है, इनके द्वारा वह अपनी कला की परख को नयी कसौटियाँ भी प्रस्तुत

कर रहा है। उसमें मौलिकता का भी अभाव नहीं है। समीक्षा के समस्त क्षेत्रों में यह अब गहराई से विचार कर रहा है।

आधुनिक काल में हिन्दी साहित्य में कई नवीन रूपों की भी उद्भावना हुई है, इनका उल्लेख यथास्थान किया गया है। इन रूपों के सम्बन्ध में जो प्रतिपादित सिद्धान्त नवीन दृष्टि से ही प्रस्तुत किये गये हैं। परम्परा-प्राप्त साहित्य रूपों के सिद्धान्तों की चर्चा में भी प्राचीन और नवीन दोनों रूपों का समावेश हुआ है।